अहिंसा और अपरिग्रह

नीरज जैन

भूमिका

इस छोटी सी पुस्तक में लेखक ने हिंसा को सबसे बड़ा पाप सिद्ध किया है और अहिंसामय धर्म की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया है। प्रायः अहिंसा को एक नकारात्मक सिद्धान्त बताकर उसकी उपेक्षा कर दी जाती है । लेखक ने इस दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए अहिंसा को एक सकारात्मक, व्यवहार और समग्र जीवन-दर्शन प्ररूपित किया है ।

भाव-हिंसा का विश्लेषण जैन-दर्शन की अपनी विशेषता है । उसकी पर्याप्त गवेषणा करते हुए हिंसा के उद्योगी, विरोधी, आरम्भी और संकल्पी ये चार भेद बताकर, यह घोष किया गया है कि केवल संकल्पी हिंसा का त्याग कर देने पर मनुष्य "अहिंसक" कहलाने का अधिकारी हो जाता है । यह एक ऐसी दृष्टि है जो "कायरता" और "पलायनवाद" जैसे लांछनों से मुक्त करके अहिंसा को समस्त मानवीय-मूल्यों का आधार मानते हुए मानवता की धुरी के रूप में स्थापित करती है । अहिंसा की यह सर्वांग, संक्षिप्त और सरल विवेचना प्रारम्भ में प्रस्तुत करके, उसे ही शेष कथन का साध्य बनाया गया है । सदाचरण की वही प्रमुख उपलब्धि है ।

अणुव्रत की विवेचना करते हुए अपरिग्रह की विशद किन्तु काम्य प्रस्तुति है । अपरिग्रह के बिना अपने आपको समेटना सम्भव नहीं, और स्वयं को समेटे बिना सुख, शान्ति या संतोष, किसी की भी उपलब्धि सम्भव नहीं । परिग्रह की लिप्सा में उलझे व्यक्ति की चेतना पर अविद्या का कोहरा छाया रहता है । इसी कारण वह न जगत को जान पाता है, न स्वयं को।

आज के संघर्ष-पूर्ण और व्यस्त जीवन में, मनुष्य के अंतःकरण को संवारने वाले ऐसे सरल-सुगम किन्तु समर्थ आलेख सामान्य पाठक के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं । मुझे पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक सभी क्षेत्रों और वर्गों में चाव से पढ़ी जायेगी और पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे ।

7, दरियागंज, दिल्ली । - यशपाल जैन

अहिंसा और अपरिग्रह

लेखक
नीरज जैन

प्रकाशक
मनीशा ट्रस्ट, शान्ति सदन, सतना
अगस्त १९९२

अहिंसा और अपरिग्रह

प्रकाशक -
सतीश कुमार जैन
मनीशा ट्रस्ट,
शान्ति सदन,
सतना - ४८५००१

लेखक
नीरज जैन

प्रथम संस्करण - अगस्त ९२

मूल्य : पन्द्रह रुपया

मुद्रक -
शकुन प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली

प्रस्तावना

आज सामान्य व्यक्ति के जीवन से शान्ति का अभाव होता जा रहा है। जीवन के संघर्ष दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। ऐसा लगता है कि हमारी सारी दौड़ भौतिक समृद्धि के लिये समर्पित होकर रह गई है।

विष्णु प्रभाकर जी ने एक जगह लिखा था—"आज देश में धन-वैभव के मूल्य बढ़ गये हैं और नैतिकता के मूल्य शून्य हो गये हैं। गरीबी की गरिमा, सादगी का सौन्दर्य, संघर्ष का हर्ष, समता का स्वाद और आस्था का आनन्द, ये सब हमारे आचरण से पतझर के पत्तों की तरह झर गये हैं"। आज समाज की सारी अशान्ति, सारे संक्लेश, इसी वैचारिक पतझर का परिणाम है।

ऐसे में नैतिक और धार्मिक विचार ही मनुष्य के मार्ग-दर्शक हो सकते हैं। अपनी पहचान और अपने लक्ष्य का संकल्प ही उसके आचरण में मानवता की सुरभि का संचार कर सकता है। विश्व-व्यवस्था के रहस्यों का परिज्ञान ही उसके लिये आत्म-अवलोकन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

यदि एक बार पूर्वाग्रह छोड़कर संसार की दशा को समझा जा सके तो मन के बहुत से तनाव स्वतः विसर्जित हो जाते हैं। सृष्टि की रहस्यात्मकता पर से पर्दा उठते ही मन में छाया हुआ अविद्या का अंधकार तिरोहित होने लगता है। विश्व-व्यवस्था की यही अनुभव-गम्य व्याख्यायें आगे के पृष्ठों पर प्रस्तुत की गई हैं।

जो लोग जीवन को बिना कोई दिशा दिये जीना चाहते हैं, वे अपने आपको तो अर्थहीन बनाते ही हैं, समाज को भी हानिकारक परम्पराओं की सौगातें सौंप जाते हैं। यह जीवन सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट वरदान है। इसे निरर्थक नहीं बिताया जाना चाहिए। स्व-हित और पर-हित के लिये सोद्देश्य और सार्थक बना कर इसे जीना चाहिए। मुख्य रूप से यही इस पुस्तक में मेरा कथ्य है। "सौम्य, शान्त और तनाव-रहित जीवन हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" इस घोष का समर्थन ही मेरा काम्य है।

1989 में कुंभ के अवसर पर लगभग चार सप्ताह तक स्व. माधव प्रसाद जी बिरला के साथ मुझे आनन्द-कानन में रहने का अवसर मिला। प्रतिदिन दो बार वहां धर्म-चर्चा होती थी। अनेक गण्य-मान्य अतिथि उस बीच वहां आये। अनेक मनीषी विद्वानों का भी सत्संग मिला। इन सब की उपस्थिति में शाम की चर्चा के समय रोज एक गोष्ठी जैसी हो जाती थी। श्रीमती प्रियंवदा जी बिरला स्वयं एक आस्थावान और प्रबुद्ध महिला हैं। जिस निराग्रही मन से उन्होंने इस गोष्ठी के लिये प्रसंग रखे, वैसे ही अनाग्रह-पूर्वक प्रश्नों के समाधान भी उनके द्वारा समादृत होते रहे।

आनन्द-कानन की उन्हीं वार्ताओं में से पंच-अणुव्रतों पर यह छोटा सा आलेख तैयार किया गया है । इसे मैने अपनी पुस्तक "मानवता की धुरी" में शामिल किया है । अल्पकाल में ही उस पुस्तक के तीन संस्करण निकल चुके हैं और उसकी मांग बराबर बनी हुई है ।

इस आलेख में अहिंसा और अपरिग्रह पर विशेष रूप से विचार किया गया है । मेरी ऐसी मान्यता है कि आज इस चमक-दमक के युग में धन-लिप्सा ही समस्त पापों को हमारे जीवन में आमंत्रित कर रही है और आश्रय दे रही है । केवल सामाजिक स्तर पर ही नहीं, राष्ट्रीय स्तर पर भी, तथा विश्व-स्तर पर भी, पूरी मानवता लिप्सा के चक्रव्यूह में फंस गई है । धनार्जन के लिए आज का मनुष्य अपना विवेक खोकर कितनी भी हिंसा करने के लिये, कैसा भी झूठ बोलने के लिये तथा किसी के भी प्रति शील-शून्य व्यवहार करने के लिये जैसे तैयार ही बैठा है।

परिग्रह लिप्सा का अतिरेक हमारे आचरण को भी दूषित कर रहा है । हमारे भोजन में आधुनिकता के नाम पर न जाने कैसे-कैसे पदार्थ स्थान पाने लगे हैं। अण्डा-शराब आदि वर्जित पदार्थों का प्रचार बढ़ता जा रहा है । इस अमर्यादित आचरण के विषैले प्रभाव भी हिंसा, लूटपाट, बलात्कार, अपहरण और आतंकवाद के रूप में मानवता का मखौल उड़ा रहे हैं । ऐसी विषम परिस्थितियों में अहिंसा और अपरिग्रह ही समाज का मार्गदर्शन कर सकते हैं। इन ज्वलंत सामाजिक समस्याओं का समाधान आत्म-निग्रह के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र मिल ही नहीं सकता । यही इस आलेख का केन्द्र-बिन्दु है ।

अस पुस्तक के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों का किंचित भी सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है उन सभी को मैं सादर और साभार यहाँ स्मरण करता हूं । इन पृष्ठों के अवलोकन से दो-चार व्यक्तियों की जीवन-पद्धति में भी यदि कुछ परिमार्जन हो सका तो मेरा प्रयास मुझे सार्थक लगेगा ।

शान्ति सदन, सतना.
श्रावण शुक्ला सप्तमी, १९९२

अहिंसा और अपरिग्रह

अहिंसा मानसिक पवित्रता का नाम है। उसके व्यापक क्षेत्र में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी सद्गुण समा जाते हैं। इसीलिए अहिंसा को "परम-धर्म" कहा गया है। संसार में जल-थल और आकाश सर्वत्र सूक्ष्म-जीव भरे हुये हैं, इसलिए बाह्य आचरण में पूर्ण अहिंसक होकर रहना सम्भव नहीं है। परन्तु यदि अन्तरंग में समता हो और बाहर की प्रवृत्तियाँ प्रमाद-रहित, यत्नाचार पूर्वक नियंत्रित कर ली जायें, तो बाह्य में सूक्ष्म जीवों का घात होते हुए भी, साधक अपनी आन्तरिक पवित्रता के बल पर अहिसंक बना रह सकता है।

अहिंसा का क्षेत्र इतना संकुचित नहीं है जितना लोक में समझा जाता है। अहिंसा का आचरण भीतर और बाहर दोनों ओर होता है। अन्तरंग में चित्त का स्थिर रहना अहिंसा है। जीव का अपने साम्य-भाव में संलग्न रहना अहिंसा है। क्रोध-मान-माया-लोभ से रहित पवित्र विचार और संकल्प ही अहिंसा है। अंतरंग में ऐसी आंशिक साम्यता लाये बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती।

अहिंसा केवल एक व्रत नहीं है। अहिंसा एक विचार, एक समग्र-चिन्तन है। अहिंसा किसी मन्दिर में, या किसी तीर्थ पर जाकर सुबह-शाम सम्पन्न किया जाने वाला कोई अनुष्ठान नहीं है। वह आठों-याम चरितार्थ किया जाने वाला एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। वह संसार के सभी धर्मों का मूल है।

मानवता की परिभाषा यदि एक ही शब्द में करने की आवश्यकता पड़े तो "अहिंसा" के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द है ही नहीं जो उस गरिमा का वहन कर सके।

अहिंसा पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह एक नकारात्मक विचार है और गृहस्थ जीवन में व्यवहार्य नहीं है। परन्तु अहिंसा पर जो अध्ययन हुआ है, और समाज में अहिंसक जीवन के जो थोड़े से उदाहरण सामने आए हैं, उनके आधार पर ये दोनों आरोप

निराधार सिद्ध होते हैं।

यदि हम संतों और मुनियों-आचार्यों की बात छोड़ भी दें, तो भी अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसा के सकारात्मक प्रयोग करके, रक्त-विहीन क्रान्ति के सहारे, अपने देश को स्वाधीन कराने का अनोखा काम, अभी हमारे सामने ही सम्पन्न किया है। इसी प्रकार अनेक महापुरुषों ने हिंसा-रहित जीवन जी कर यह भी चरितार्थ कर दिया है कि अहिंसा अव्यवहारिक नहीं है। वह पूर्णतः व्यावहारिक जीवन-पद्धति है। वह एक निष्पाप, निराकुल, संतुष्ट और अखण्ड जीवन जीने की कला है। अहिंसा में इतनी सामर्थ्य है कि वह विकार से दहकते हुये चित्त में समता और शान्ति के फूल खिला सकती है।

अहिंसा निर्मल चेतना से अनुशासित, विधायक और व्यवहार्य जीवन-विधान है। वह मनुष्य की सबसे बड़ी पूंजी है। मनुजता की धुरी है। जैनाचार्यों ने अहिंसा को परम-धर्म और हिंसा को सबसे बड़ा पाप माना है। उन्होंने स्थापित किया है कि झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह आदि सभी पाप हिंसा के ही रूप हैं। इसीलिए उन्होंने अहिंसा को साध्य तथा सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि शेष व्रतों को उसका साधक माना है। उन्होंने आन्तरिक अहिंसा को "निश्चय-अहिंसा" और बाह्य आचरण में पलने वाली अहिंसा को "व्यवहार-अहिंसा" कहा है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव के अपने अविकारी भाव अहिंसा हैं और विकारी भाव ही हिंसा हैं। दूसरे शब्दों में जो प्रमाद से अभिभूत है वह हिंसक और जो अप्रमत्त है उसे अहिंसक कहा गया है।

अहिंसा मानव-मन का स्थायी भाव है। राजनीति के कुचक्र में क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिये, कहीं धर्म के नाम पर, कहीं भाषा और वेष के नाम पर, बार-बार हिंसा को उकसाया जाता है। संतों-महात्माओं के द्वारा जगायी गई अहिंसा की ज्योति को बुझाने का प्रयास किया जाता है। परन्तु वह ज्योति केवल काँप कर रह जाती है। कभी बुझती नहीं।

अहिंसा अनन्त काल तक मानव मन को प्रकाशित करती रहेगी। वह उधार के तेल से जलाया गया दीपक नहीं है जो घड़ी भर में बुझ जाये। अहिंसा तो एक आंतरिक प्रकाश है। वह मानवता की सहज-स्वाभाविक और शास्वत ज्योति है। उसे कभी बुझाया नहीं जा सकेगा। भावनाओं को भड़का कर इन्सान को कुछ समय के लिये

शैतान बनाया जा सकता है, पर उसे हमेशा शैतान रखा नहीं जा सकता।

हिंसा पर अहिंसा की विजय का यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

जैन आगम में अहिंसा–

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। इसलिए जैन आगम में अहिंसा की प्रेरणा के लिए और हिंसा के निषेध के लिये, बहुत लिखा गया है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व अमृतचन्द्रस्वामी प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य हुए हैं। उन्होंने अनेक शास्त्रों की रचना की। हिंसा और अहिंसा की परिभाषा के लिये उन्होंने एक स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिखा। अहिंसा के मार्ग से चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं, ऐसा विश्वास करके उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम रखा– "पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय"।

अमृतचन्द्रस्वामी ने इस ग्रन्थ में हिंसा और अहिंसा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि बाद के आचार्यों ने उनके विषय में यह स्वीकार किया कि– "हिंसा-अहिंसा के विषय में आगम में जहां भी, जो कुछ भी उपलब्ध है, वह बीज रूप से "पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय" में अवश्य है। जो इस ग्रन्थ में नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।"

उनकी विवेचना के कुछ सूत्र हम यहां प्रस्तुत करेंगे।

निज की भी होती है हिंसा–

चित्त में क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों की उत्पत्ति ही हिंसा है। चित्त की निष्कषाय, निर्मल परिणति ही अहिंसा है। जीव जब राग-द्वेष-मोह रूप परिणामों से प्रेरित नहीं है, तब प्राणों का व्यपरोपण हो जाने पर भी वह अहिंसक है। और जब राग आदि कषायों से युक्त है तब किसी के प्राणों का विघात न होने पर भी वह हिंसक है।

हिंसा के सन्दर्भ में प्रायः यह समझा जाता है कि दूसरों को पीड़ा पहुंचाना हिंसा है। कोई व्यक्ति क्रोधित होकर किसी को मारता है तब निश्चित ही पिटने वाले व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक पीड़ा होती है। इसी पीड़ा को प्रायः हिंसा की सीमा समझ लिया जाता है। परन्तु पीटने वाले व्यक्ति की मानसिक या शारीरिक पीड़ा को, या उसके प्राणों के विघात को अनदेखा कर दिया जाता है। परन्तु यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। यह तो अधूरा सत्य है।

व्यक्ति जब क्रोधित होता है और दूसरे को मारता-पीटता है तब उसके अपने भी तन और मन दोनों विकृत हो जाते हैं। उसका चित्त अशान्त हो जाता है। वह अपने भीतर एक तनाव महसूस करता है। इसके बाद ही वह दूसरे के साथ मार-पीट करता है। जैन व्याख्या के अनुसार हिंसा के पूर्व, हिंसक के तन और मन की विकृति भी हिंसा है।वह उसके अपने प्राणों का व्यपरोपण है और पहले वही हिंसा घटित होती है। इस तरह हिंसक व्यक्ति, बाहर की हिंसा के पूर्व, मन में हिंसा की भावना आते ही अपनी स्व की हिंसा का अपराधी हो जाता है और उसके दण्ड स्वरूप पाप-बन्ध कर लेता है।

अहिंसा की मान्यता

अहिंसा को प्रायः सभी विचारकों ने "परम-धर्म" कहा है। तुलसीदास जी ने श्रुतियों और संहिताओं की साक्षी-पूर्वक यह बात कही कि–

परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा,
पर निन्दा सम अघ न गरीसा ।

–रामचरित मानस/उत्तरकाण्ड/120-ख

किन्तु मानस में ही उन्होंने सत्य को भी परम-धरम कह दिया–

धरमु न दूसर सत्य समाना,
आगम निगम पुरान बखाना ।

–अयोध्याकाण्ड/94

आगे चलकर गोस्वामीजी ने परम-धरम की एक और परिभाषा कर दी। उन्होंने परोपकार को भी परम-धरम कह दिया–

परहित सरिस धरम नहिं भाई,
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।

–उत्तरकाण्ड/40

यदि इन तीनों पंक्तियों को एक साथ पढ़ा जाये तो मन में एक उलझन पैदा होती है। एक प्रश्न उठता है कि परम-धरम तो एक ही होना चाहिए, वह तीन प्रकार का कैसे हो सकता? हर कहीं मुख्य या

प्रधान, एक ही होता है। दो तो परम हो ही नहीं सकते। यह प्रश्न बहुत दिन तक मन में अनुत्तरित पड़ा रहा। एक दिन मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री शिवदयाल जी के सामने, चर्चा-वार्ता में प्रसंग पाकर मैंने यह प्रश्न रखा। उन्होंने सुगमता पूर्वक इसका समाधान कर दिया। उनका चिन्तन था–

–"हमारे पास कुछ करने के लिए मन, वाणी और शरीर, ये तीन ही साधन हैं। धर्म तो वही हो सकता है जो इन तीनों में बस जाये, इन तीनों को पवित्र करे। वास्तव में परम-धर्म तो एक ही है, और वह है "अहिंसा"। अहिंसा अपने आप में एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन है। मन का सारा सोच विचार, और मन के सारे संकल्प, अहिंसा पर आधारित होने चाहिए और अहिंसामय होने चाहिए। अतः चिन्तन के स्तर पर अहिंसा ही परम धर्म है। हमारे कृत्य भर नहीं, हमारे भाव भी अहिंसामय हों, यह अहिंसा की अनिवार्य शर्त है।"

–"मन की वह अहिंसा जब वाणी में उरती है तब सत्य को परम-धर्म की संज्ञा मिलती है। इसी प्रकार शरीर तथा साधनों के माध्यम से जब अहिंसा की साधना की जाती है तब परोपकार या पर-हित को ही परम-धर्म कहना होगा। परन्तु वाणी और शरीर के ये दानों परम-धर्म मिलकर अहिंसा को ही श्रेय देंगे। उसी की प्रतिष्ठा करेंगे।"

संसार के सभी जीव दुखों से बचना चाहते हैं और सुखों की कामना करते हैं। दुखी होना कोई नहीं चाहता। हिंसा ऐसा पाप है जो मरने वाले और मारने वाले दोनों के लिये दुखद है, दुख का मूल है। इसीलिए स्वभावतः हम सभी हिंसा से बचना चाहते हैं। अहिंसा सभी के लिये सुखद है, अतः सब जीव स्वभावतः अहिंसक वातावरण में रहना चाहते हैं।

महाभारत में अहिंसा का उपदेश पग-पग पर मिलता है। शान्तिपर्व में एक जगह कहा गया है कि– "अध्ययन, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रिय-संयम एवं अहिंसा-धर्म का पालन जिस क्षेत्र में होता हो, वहीं व्यक्ति को निवास करना चाहिये"–

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा।
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः,
स वो देशः सेवितव्यो मा वो धर्मः पदास्पृश्यते ।

–महाभारत/शान्तिपर्व/340/-88-89

अहिंसा को महाभारत में नैतिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियों से सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गई है–

–"अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा ही परम तप है। अहिंसा ही परम सत्य है और अहिंसा ही धर्म का प्रवर्तन कराने वाली है। यही संयम है,यही दान है, परम ज्ञान है और यही दान का फल है। जीव के लिये अहिंसा से बढ़कर हितकारी, मित्र और सुख देने वाला दूसरा कोई नहीं है"–

अहिंसा परमो धर्मः, अहिंसा परमो तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।।

अहिंसा परमो धर्मः, अहिंसा परमो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।।

अहिंसा परमो यज्ञः अहिंसा परमो फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्।।

–महाभारत/अनुशासन पर्व/115-23/116-28-29

अनुशासनपर्व में ही कहा गया– "देवताओं और अतिथियों की सेवा, धर्म की सतत् आराधना, वेदों का अध्ययन, यज्ञ-तप-दान, गुरु और आचार्य की सेवा तथा तीर्थों की यात्रा, ये सब मिलाकर अहिंसा की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं। अहिंसा इन सबसे श्रेष्ठ है।"–

देवतातिथि-सुश्रूषा सततं धर्मशीलता ।
वेदाध्ययन-यज्ञाश्च तपो दानं दमस्तथा।।

आचार्य-गुरु-सुश्रूषा-तीर्थाभिगमनं तथा ।
अहिंसाया वरारोहे कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

–महाभारत/अनुशासनपर्व/145

पुराणों में अहिंसा को सर्व धर्मों में श्रेष्ठ धर्म बताते हुए कहा गया– "चार वेदों के अध्ययन से, या सत्य बोलने से, जितना पुण्य प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक पुण्य-प्राप्ति अहिंसा के पालन से होती है।"–

चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं सत्यवादिषु ।
अहिंसायान्तु यो धर्मो गमनादेव तत् फलम्।।

–मत्स्य-पुराण/105-48

नारद-पुराण में भी अहिंसा की महिमा गाई गई है– "हे राजन्! वह अहिंसा सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली तथा पापों से छुड़ाने वाली है।"–

अहिंसा सा नृप प्रोक्ता सर्वकामप्रदायिनी ।
कर्म-कार्य-सहायत्वमकार्यं परिपन्थता।।

–नारद पुराण/ 16-22

ब्रह्म पुराण में देवी पार्वती द्वारा यह पूछने पर कि मुक्ति के पात्र कौने होते हैं, शिव ने उत्तर में कहा– "मन, वचन, और काया से जो पूरी तरह अहिंसक रहते हैं, और जो शत्रु और मित्र दोनों को समान दृष्टि से देखते हैं, वे कर्म-बन्धन से छूट जाते हैं। सभी जीवों पर दया करने वाले, सभी जीवों में आत्मा का दर्शन करने वाले, और मन से भी किसी जीव की हिंसा न करने वाले स्वर्गों के सुख भोगते हैं"–

कर्मणा-मनसा-वाचा ये न हिंसन्ति किंचन ।
तुल्यद्वेष्य-प्रियादान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः।।

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्था सर्वजन्तुषु ।
त्यक्तहिंस-समाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः।।

–ब्रह्म-पुराण/224/8-9

शान्तिपर्व में अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुए हिंसा को सबसे बड़े अधर्म और अहिंसा को सबसे बड़े धर्म के रूप में रेखांकित किया गया है। उसी प्रसंग में यह भी लिखा गया है कि– "जीवों के लिये अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा प्राणियों की रक्षा होती है और किसी को भी कोई कष्ट नहीं होता।"–

अहिंसा सकला धर्मोऽहिंसाधर्मस्तथाहितः
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कंथचन।।

महाभारत/शान्तिपूर्व/272-20/262-30

जैन मुनि के आचरण में दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग अनिवार्य बताया गया है। राग-द्वेष के सम्पूर्ण अभाव में ही पूर्ण अहिंसा का पालन सम्भव होता है।

दौलतराम जी ने मुनियों की जीवन पद्धति दर्शाते हुए कहा– ''सूक्ष्म एक-इन्द्रिय से लगाकर संज्ञी-पंच इन्द्रिय तक छहों प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग होने से मुनिजन द्रव्य-हिंसा से विरत रहते हैं, और राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी भावों से रहित होने के कारण वे भाव-हिंसा से विरत हैं। इस प्रकार वही सच्चे और परिपूर्ण अहिंसक होते हैं।–

षटकाय जीव न हनन तैं
सब विधि दरब-हिंसा टरी,
रागादि भाव निवारतैं
हिंसा न भावित अवतरी ।

–छहढाला/6-1

द्वादस-अनुप्रेक्षा और दसलक्षण-धर्म–

इस प्रसंग में जैन-उपासना में द्वादस-अनुप्रेक्षा और दसलक्षण धर्मों पर विशेष जोर दिया गया है। अनित्य-अशरण-संसार आदि अनुप्रेक्षाओं के द्वारा संसार की क्षण-भंगुरता का चिन्तन किया गया है। एकत्व और अन्यत्व भावना में जीव की असहाय, एकाकी, निराश्रय स्थिति पर विचार किया गया है। अशुचि और आस्रव भावना में देह की दशा पर विचार करते हुए कर्मों के आने और आत्मा के साथ बँधने के कारण तलाशे गये हैं। संवर और निर्जरा अनुप्रेक्षाएं चिन्तक को मुक्ति के उपाय बताती हैं। लोक-भावना भूत-भविष्य और वर्तमान के संदर्भों में उसे उसकी वास्तविकता से परिचित कराती है। बोधि-दुर्लभ-भावना में यथार्थ-ज्ञान की दुर्लभता का विचार है, तथा अंत में धर्म-भावना के द्वारा जीव को उसके निज-धर्म की ओर प्रेरित किया जाता है।

इसी प्रकार दसलक्षण-धर्म में क्षमा-मार्दव-ऋजुता और शुचिता आदि के द्वारा साधक को क्रोध-मान-माया-लोभ के त्याग से लेकर आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्म में लीन हो जाने तक का यात्रा-पथ प्रदर्शित किया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि बारह-भावनाओं में और दसलक्षण धर्मों में कहीं अहिंसा का नाम नहीं है। अहिंसा इन सबसे ऊपर, इन सबका अंतिम लक्ष्य मानी गई है। अहिंसा को साधन नहीं, साध्य माना गया है। अहिंसा की चरम और

परम स्थिति प्राप्त करने के ही ये सब उपाय हैं। अहिंसा से बड़ा कोई धर्म है ही नहीं।

जैनाचार पद्धति में गृह-निवास करने वाले गृहस्थों और गृह-त्याग कर तपस्या करने वाले मुनियों के लिये धर्म के दो भेद किये हैं। गृहस्थों के लिये "सागार-धर्म", और मुनियों के लिये 'अनगार-धर्म"। इसी आधार पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह, इन पांच व्रतों को भी दो प्रकार से कहा गया है। पांच पापों का आंशिक त्याग, जो गृहस्थों के लिये साध्य है, उसे "पंच-अणुव्रत" रूप में निर्देशित किया गया और इन्हीं पांच पापों का सम्पूर्ण त्याग, जो केवल मुनियों के द्वारा साध्य है, पांच-महाव्रतों के नाम से कहा गया।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा—

हिंसा मन-वाणी और शरीर तीनों के माध्यम से होती है। परन्तु जब हिंसा की बात आती है तब प्रायः वाणी और शरीर के माध्यम से होने वाली हिंसा को रोकने पर जोर दिया जाता है। मन के माध्यम से होने वाली हिंसा को रोकना अनावश्यक या असम्भव मानकर, उसकी चर्चा छोड़ दी जाती है।

जैनाचार्यों ने मन के माध्यम से होने वाले पापों को रोकने पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया है। उनकी मान्यता है कि मन के पाप रोके बिना वचन और तन के पाप नहीं रोके जा सकते। उन्होंने यह भी माना है कि जीव को अपनी करनी से जो कर्म बन्ध होता है उसमें फल देने वाली शक्तियां उसके मानसिक व्यापार के आधार पर ही उत्पन्न होती हैं।

इस चिन्तन के आधार पर जैन संतों ने हिंसा को "भाव-हिंसा" और "द्रव्य-हिंसा" के रूप में दो प्रकार से कहा है। प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने का, या उनके घात का विचार करना "भाव-हिंसा" है। प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने वाली और उनका घात करने वाली क्रिया "द्रव्य-हिंसा" है।

मूल में भाव-हिंसा अनिवार्य रूप से मौजूद रहती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जहां भाव-हिंसा हो वहां उसके फल-स्वरूप द्रव्य-हिंसा हो ही जाय। इसका कारण यह है कि किसी का विघात केवल हमारे सोचने से, या हमारे कुछ करने मात्र से नहीं हो जाता।

जीव का विघात होने में उसका अपना प्रारब्ध तथा अन्य अनेक बाहरी कारण भी महत्व रखते हैं।

यह निश्चित है कि किसी का विघात हो या न हो, हिंसा के परिणाम करने वाले जीव को उस विघात का पाप लगता है। उसका फल भी उसे भोगना पड़ता है। इस प्रकार हमारे कर्म-बन्ध में द्रव्य-हिंसा से अधिक भाव-हिंसा का महत्व है।

इससे एक तथ्य यह भी प्रगट होता है कि अपने मन की मलिनता के कारण हम ऐसे अनगिनते पापों का फल भोगते हैं जो हमने कभी किये ही नहीं होते। केवल चित्त की चंचलता के कारण, और राग-द्वेष की तीव्रता के कारण, तरह-तरह के कुत्सित विचार हमारे मन में उठते रहते हैं। उनके दुखद परिणाम भोगने के लिये हम मजबूर हैं।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा की तरह सभी पाप-वृत्तियों को मानसिक स्तर पर और भौतिक या स्थूलता के स्तर पर, दो प्रकार से समझा जाना चाहिये। झूठ भी "भाव-झूठ" और "द्रव्य-झूठ" के प्रकार से दो तरह का है। चोरी और कुशील भी इसी तरह दो-दो प्रकार के हैं। इसी प्रकार परिग्रह को भी मानसिक और भौतिक स्तर पर बांटकर समझना होगा।

लौकिक न्याय-पद्धतियों में भी भाव-हिंसा को द्रव्य-हिंसा से अधिक महत्व दिया जाता है। विश्व की सारी न्याय-व्यवस्था इसी आधार पर अवलम्बित है।

किसे कितनी सजा—

हमारे नगर में एक दिन तीन घटनायें घट जाती हैं। तीनों में एक-एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। एक व्यक्ति को लूटने के लिए कोई डाकू उसके सीने में छुरी भोंक देता है। दूसरी जगह किसी वाहन दुर्घटना में एक व्यक्ति कुचल कर मर जाता है। तीसरी घटना में एक मरीज ऑपरेशन की टेबिल पर शान्त हो जाता है।

तीनों घटनाओं में एक-एक व्यक्ति के निमित्त एक-एक व्यक्ति का जीवन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से तीनों घटनाओं का प्रतिफल एक होते हुए भी तीनों व्यक्तियों की मानसिकता में बहुत अन्तर है। उनके अभिप्राय एकदम अलग-अलग हैं। इसीलिए पुलिस की डायरी में, और न्यायालय के फैसले में, डाकू, ड्राइवर और

डॉक्टर, इन तीनों के लिये जुदी-जुदी व्यवस्था होगी। उनका अपराध घटना के प्रतिफल से नहीं, उनके मानसिक संकल्पों से तौला जायेगा।

डाकू को व्यक्ति की हत्या का दोषी ठहराया जायेगा और मृत्यु दण्ड जैसा कठोर दण्ड दिया जायेगा। उसके द्वारा आहत व्यक्ति यदि एक बार बच भी जाये तब भी डाकू को हत्या के प्रयास के लिये दण्डित किया जायेगा।

ड्राइवर को हत्या का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसे घटना के तथ्यों के अनुरूप या तो अयोग्य वाहन चलाने, अथवा असावधानी से वाहन चलाने का दोषी मानकर हल्का दण्ड दिया जायेगा।

परन्तु डॉक्टर को, अन्तिम साँस तक रोगी को बचाने के उपाय करने के लिये सराहा जायेगा। पुलिस और कानून तो उससे कुछ बोलेंगे ही नहीं, रोगी के सम्बन्धी भी उसका उपकार ही मानेंगे कि– ''आपने तो अन्त-अन्त तक प्रयत्न किया, परन्तु उनकी आयु समाप्त हो गई थी, या हमारा भाग्य ही ऐसा था।''

लोक-परलोक की व्यवस्था, कर्म-बन्ध और कर्म-फल का गणित भी लौकिक कानून के अनुरूप, पूरी तरह ऐसे ही प्राकृतिक न्याय पर आधारित है। भौतिक-हिंसा का स्वरूप चाहे जैसा हो, उसमें संलग्न सभी लोगों को अपनी-अपनी भाव-हिंसा के अनुसार कर्म-बन्ध होता है। इसीलिए तो कभी-कभी दूर बैठा हुआ व्यक्ति उस पाप का भागीदार होता है जबकि साक्षात् संलग्न दिखाई देने वाला व्यक्ति उतना भागीदार नहीं होता। कोई करता हुआ दिखाई देता है पर यथार्थ कर्ता नहीं है। कोई करता नहीं है फिर भी उसे उस कर्म का फल भोगना पड़ता है। भावों की ऐसी ही विचित्रता है। इसीलिये पाप में जाते मन को अंकुश लगाने की आवश्यकता है। मानसिक पाप ही भाव-हिंसा है।

विचित्र हैं हिंसा के समीकरण

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा के ऐसे-ऐसे समीकरण बनते रहते हैं कि कई बार हिंसा और अहिंसा का गणित कुछ विचित्र सा लगने लगता है। जैसे कहीं हिंसा एक व्यक्ति करता है और उससे होने वाला पाप-बंध अनेकों को होता है। या हिंसात्मक कार्य अनेक लोग मिलकर करते हैं परन्तु उसका फल एक ही व्यक्ति को भोगना पड़ता है।

करे एक : भोगें अनेक–

कुछ लोग पशु-पक्षियों को लेकर क्रूर खेलों का प्रदर्शन करते हैं। इन खेलों में अनेकों पशु-पक्षियों का निर्दयता-पूर्वक घात कर दिया जाता है। खेल का आयोजन या दिखाने का कार्य कुछ लोग करते हैं। वे तो पाप के भागी होते ही हैं परन्तु हजारों लोग जो उन खेलों को देखने जाते हैं, उन्हें प्रोत्साहित करते हैं और उनकी प्रशंसा-अनुमोदना करते हैं, वे सब भी उस हिंसा के भागीदार होते हैं। यहां करने वाला एक होता है, या कुछेक होते हैं, और उसका फल भोगने वाले अनेक होते हैं।

करें अनेक : भोगे एक–

एक राज्य का स्वामी दूसरे राज्य पर आक्रमण करके उसके साथ युद्ध छेड़ देता है। हजारों सैनिक एक दूसरे को मारते हुए मर जाते हैं। यहां हिंसा का कारण सिर्फ युद्ध छेड़ने वाला व्यक्ति ही है। वही वास्तव में हिंसक है और उस पूरी हिंसा का जिम्मेदार है। सैनिक तो केवल अपनी आजीविका के लिये शस्त्र चलाते हैं। उन्होंने ऐसी नौकरी चुनी, या मजबूरी में उन्हें ऐसी नौकरी स्वीकार करनी पड़ी, जिसमें दूसरों के हित के लिये किसी को मारना पड़ता है या स्वयं मरना पड़ता है। उतनी दूर तक वे उसका फल भी भोगेंगे, परन्तु यहां करने वाले अनेक होते हैं और उसका फल भोगने वाला एक होता है।

करे थोड़ा : भोगे बहुत–

हिंसा के तीव्र परिणामों में यदि हिंसा अल्प भी होगी तो भी उस हिंसा का तीव्र फल भोगना पड़ेगा। किसी के परिणाम तो अधिक तीव्र-हिंसा के नहीं हैं, परन्तु अचानक उसके हाथ से हिंसा अधिक हो गई, ऐसी हालत में अधिक हिंसा होते हुए भी फल अल्प ही भोगना पड़ेगा। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि बालक की आदतें सुधारने के लिये माँ ने उसे एक-दो चाँटे मारे और कहीं मर्म-स्थल पर चोट लगने के कारण बालक की मृत्यु हो गई। ऐसी घटना में माँ के अभिप्राय को देखते हुए उसे हत्यारिन नहीं कहा जाता। उसे हत्या का पाप भी नहीं लगेगा।

करें समान : भोगें हीनाधिक–

कभी कई लोग मिलकर हिंसा का कोई कार्य करते हैं। ऐसा समझना ठीक नहीं होगा कि उसका फल भी उन्हें एक सा लगेगा। कार्य करते समय उसे लेकर सबकी भावनाएं जुदी-जुदी हैं। किसी के मन में तीव्रता है, किसी के मन में मन्दता है। हो सकता है उस समय किसी के मन में उस कार्य के प्रति अरुचि भी हो। कार्य सम्मिलित प्रयत्नों से हुआ है फिर भी अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप किसी को हिंसा का अधिक फल भोगना पड़ेगा और किसी को कम फल भोगना होगा।

करें बाद में : भोगें पहले–

हिंसा के संकल्प में और हिंसा की क्रिया में समय-भेद होता है। पाप-बंध तो संकल्प के साथ ही हो जाता है। हिंसा बाद में होती रहती है। ऐसे में कई बार हिंसा होने के साथ ही साथ हिंसक को उसका फल भी मिल जाता है। कई बार फल पहले ही मिल जाता है, हिंसा बाद में होती रहती है।

करे कोई : भरे कोई–

कई बार अनजान व्यक्ति को, या भोले बालकों को फुसलाकर किसी को गोली का निशाना बनवा दिया जाता है। कई बार किराये के हत्यारों के माध्यम से अपनी राह का रोड़ा हटाया जाता है। ऐसी हालत में जिसके हाथ से प्राणि-घात होता है उसे उतनी हिंसा नहीं लगती जितनी उसे प्रेरित करने वाले को लगती है। पाप के लिये प्रेरणा देने वाला ही वास्तविक पापी माना जाता है।

इस प्रकार हिंसा की योजना और हिंसा की क्रिया के अनुसार उसके समीकरण बदल जाते हैं। परन्तु यह अटल नियम है कि हिंसा के अपराधी को भाव-हिंसा के अनुरूप फल भोगना ही पड़ता है। कर्म की अदालत में प्राकृतिक न्याय होता है। वहाँ कोई छल-कपट नहीं चलता।

चार मनस्थितियाँ : चार परिस्थितियाँ–

मन, वाणी और शरीर के दुष्प्रयोग से होने वाली हिंसा में चार सम्भावनाएं बनती हैं–

1. एक व्यक्ति ने खेत पर एक साँप देखा, उसे मारने का विचार किया और डण्डा उठाकर उसे मार डाला। यह भाव-हिंसा के अनुरूप द्रव्य-हिंसा घटित हो गई।
2. उसने डण्डा उठाया तब तक साँप भाग गया। वह चाहते हुए भी उसे मार नहीं पाया। यहाँ भाव-हिंसा तो हुई परन्तु द्रव्य-हिंसा घटित नहीं हुई।
3. एक व्यक्ति बैलगाड़ी हाँक रहा था। धोखे से साँप उसके नीचे कुचल कर मर गया। साँप को मारने का उसका कोई इरादा नहीं था। यहाँ भाव-हिंसा का सर्वथा अभाव था, परन्तु द्रव्य-हिंसा हो गई।
4. एक व्यक्ति खेत पर साँप को देखकर भी उसे मारने का विचार नहीं करता। वह सोचता है– ''इसने अपना कुछ बिगाड़ा नहीं, व्यर्थ इसके प्राण लेने से मुझे क्या प्रयोजन?'' यहां न तो भाव-हिंसा है और न ही द्रव्य-हिंसा है।

चारों स्थितियों में हिंसा के पाप का फल अलग-अलग होगा।

इसी प्रकार मन-वाणी और शरीर के अनुशासन से अहिंसा में भी चार सम्भावनाएं बनती हैं–

1. हिंसा-त्याग की भावना से रहित, अमर्यादित राग-द्वेष-मोह से भरा हुआ स्वच्छन्द जीवन, जहां व्रत और पाप-त्याग के बिना निरन्तर भाव-हिंसा हो रही है, और मन-वचन-काय के असंयम के कारण प्रतिक्षण द्रव्य-हिंसा भी हो रही है। यहां न भाव-अहिंसा है, न द्रव्य-अहिंसा है।
2. कोई बहेलिया जाल फैलाकर बैठा है। संयोगवश एक भी पक्षी जाल में नहीं फँसा। यहाँ भाव-अहिंसा नहीं है, परन्तु द्रव्य-अहिंसा है।
3. कोई डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है। यहां रोगी के तन-मन को पीड़ा तो हो रही है, पर वह उसे कष्ट देने के लिये नहीं, आराम पहुंचाने के लिये दी जा रही है। यहां भाव-अहिंसा तो है, परन्तु द्रव्य-अहिंसा नहीं है।
4. कोई सात्विक व्यक्ति संकल्प करता है कि अमुक समय तक ऐसी सावधानी से चलना है कि मेरे द्वारा किसी जीव की हिंसा न हो

जाये। वह ऐसे यत्नाचार-पूर्वक अपने आवश्यक कार्य कर भी लेता है कि किसी जीव की हिंसा उसके माध्यम से नहीं होती। यहाँ भाव-अहिंसा है और द्रव्य-अहिंसा भी है। यहाँ भी चारों स्थितियों में मनोभाव के अनुरूप फल जुदे-जुदे होंगे।

हिंसा-प्रतिहिंसा की अंतहीन श्रृंखला–

कुछ लोग हिंसा के जवाब में हिंसा के द्वारा ही उसका उत्तर दे देना आवश्यक और उचित मानते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि इस प्रकार प्रतिहिंसा के प्रयोग से हिंसा को समाप्त किया जा सकता है। परन्तु ऋषि-मुनियों के वचनों से, और अपने अनुभव से भी यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि प्रतिहिंसा किसी हिंसा को रोकने या समाप्त करने का उपाय नहीं है। उससे तो हिंसा और पनपती है। बैर-विरोध को और प्रोत्साहन ही मिलता है। बैर की वह वासना जन्मान्तर तक जीव के साथ रहती है। अवसर पाते ही वह अपना बदला लेती है। इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा की यह श्रृंखला अंतहीन होती चली जाती है।

इस प्रसंग में सदन कसाई की कथा याद आती है। सदन किसी धनिक की भोजनशाला के लिये मांस की व्यवस्था करता था। एक दिन खाने वाले अधिक नहीं थे अतः सदन ने विचार किया– "बकरे को पूरा काटने से क्या लाभ? जितना चाहिये उतना ही मांस निकालूं ताकि कल भी ताजा मांस मिल सके।"

सदन छुरी लेकर बकरे के सामने आया। उसे देखकर बकरा हँस पड़ा। पूछने पर बकरे ने कहा– "अब शायद हमारी दुश्मनी घट जायेगी। एक जन्म में तुम मुझे कसाई बनकर काटते हो, फिर दूसरे जन्म में तुम बकरा बनकर जनमते हो और मैं कसाई बनकर तुम्हें काटता हूं। यह सिलसिला अनेक जन्मों से चला आ रहा है। आज तुम सिर्फ अंग-भंग करने के इरादे से आये हो न? यदि ऐसा हो तो हमारी दुश्मनी कुछ तो घटेगी। हर जन्म में थोड़ी-थोड़ी भी घटती रही तो किसी दिन समाप्त भी हो जायेगी। आज जितना मांस तुम लोगे, अगले जन्म में मैं तुम्हारे शरीर से उससे कुछ कम ही लूंगा।

कहते हैं सदन हाथ की छुरी हमेशा के लिये फेंक कर भाग आया। फिर उसके जीवन की दिशा ही बदल गई। सोचना चाहिये कि कैसे घटे प्रतिहंसा का व्यवहार?

आग को कैरोसिन और पैट्रोल से नहीं बुझाया जा सकता। उसे बुझाने के लिये पानी की ही व्यवस्था करनी पड़ेगी। हिंसा को भी प्रतिहिंसा या क्रोध से कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। क्षमा और समता से ही उस वासना को निर्मूल किया जा सकता है। उसके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है।

हिंसा के पक्ष में थोथे तर्क–

जैसे-जैसे हिंसा का प्रसार होता गया और मांसाहार बढ़ता गया, वैसे ही वैसे इन्द्रिय-लोलुप व्यक्तियों ने अपनी करनी को तर्क के आधार पर उचित ठहराने के प्रयत्न भी किये। अनेक शास्त्रों में क्षेपण करके हिंसा-संमर्थक प्रसंग जोड़े गये। अर्थ का अनर्थ किया गया। अनेक असंगत मान्यताओं का आधार लेकर हिंसा को पुण्य और धर्म से भी जोड़ा गया। उनमें से कुछ धारणाओं का हम यहां उल्लेख करेंगे–

- देवताओं के लिये हिंसा करना।
- पूज्य पुरुषों के स्वागत-सत्कार में हिंसा करना।
- शाकाहार में अनेक जीवों की हिंसा होती है परन्तु मांसाहार में केवल एक जीव की हिंसा होती है, इसलिए मांसाहार ही भला है, ऐसा मानना।
- हिंसक जीवों को मार देने से अनेक जीवों की रक्षा होती है ऐसा मानकर हिंसक प्राणियों की हिंसा को उचित ठहराना।
- इसी प्रकार हिंसक मनुष्यों का वध भी उचित मानना।
- दुखी जीवों को दुख से छुड़ाने के लिये मार डालना।
- सुखी जीव को मार देने से दूसरे भव में उसे वैसा ही सुख मिलता है, अतः किसी जीव को सुखी स्थिति में मार देना।
- समाधि से सुगति की प्राप्ति होती है, ऐसा मानकर, समाधिस्थ साधु का सिर काट लेना। समाधिस्थ दशा में मरेगा तो सीधा मोक्ष जायेगा, ऐसा मानकर अपने गुरु का ही घात कर देना।
- दूसरे को भोजन कराने के लिए अपने शरीर का मांस निकाल कर दे देना, इस प्रकार अपना घात करना।

उपरोक्त क्रियायें हिंसा ही हैं। मनमाने आधार देकर इन क्रियाओं को धर्म मानना, या हिंसा-रहित बताना न तो तर्क की कसौटी पर खरा

उतरता है, और न ही पाप-पुण्य के संदर्भ में उसका कोई औचित्य सिद्ध होता है। जो हिंसा करेगा वह नियम से पाप का भागी होगा। जो अग्नि में हाथ डालेगा वह नियम से जलेगा।

अंगुलिमाल का गणित—

वह एक डाकू था। आते-जाते राहगीरों को लूटना उसका रोज का काम था। जिन्हें लूटता-मारता था उनकी अंगुली की एक हड्डी वह अपने गले की माला में जोड़ता जाता था। माला रोज-रोज बढ़ती जा रही थी। लोग उसका असली नाम जानते ही न थे। उनके लिये उसका नाम था दस्यु "अंगुलिमाल"।

एक दिन कोई बुद्धिमान व्यक्ति अंगुलिमाल के व्यूह में फँस गया। "जो तुम्हारे पास है, निकाल कर यहां रख दो और मरने के लिये तैयार हो जाओ।" अंगुलिमाल ने धमका कर कहा।

"भाई, तुम कौन हो. हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? तुम्हें जो चाहिए सो ले लो, पर हमें मारना क्यों चाहते हो?"

—"मैं अंगुलिमाल हूं। इस रास्ते पर आये हो तो तुमने मेरा नाम अवश्य सुना होगा। मैं भिक्षा नहीं मांगता। बलपूर्वक छीन कर लेता हूं। यही मेरे परिवार की आजीविका है। जिसे मारता हूं उसकी अंगुली की एक हड्डी इस माला में जोड़ लेता हूं।" अंगुलिमाल ने घुटनों तक झूलती अपनी माला दिखाते हुए उत्तर दिया।

—"मुझे तुम पर दया आती है। अपना परिवार पालने के लिए तुमने यह मार्ग चुना जिसमें सैकड़ों निरपराध लोगों की सम्पत्ति छीनते हो और उनका प्राण-हरण करते हो। जानते हो तुम्हें अगले जन्म में इस पाप का हिसाब देना होगा। इसका फल भोगना होगा। क्या उस समय तुम्हारे परिवार वाले इस पाप में हिस्सा बटाने के लिए तुम्हारे साथ होंगे?"

—"हम यहीं बैठे हैं, भागेंगे नहीं। एक बार जाकर अपने परिवारजनों से पूछ तो लो कि वे केवल तुम्हारी कमाई के भागीदार हैं या पाप-पुण्य में भी भागीदारी निभायेंगे?"

भद्र पुरुष के आत्म-विश्वास ने और उनकी गम्भीरता ने अंगुलिमाल को प्रभावित कर लिया था। वह चुपचाप अपने बसेरे की ओर गया और थोड़ी ही देर में वापस लौट आया।

—"आपकी आशंका ठीक थी श्रीमान्! मेरे कुटुम्बी कहते हैं— हम सब आपके आश्रित हैं। हमारा पालन-पोषण आपका कर्त्तव्य है। उसके लिये हमने तो आपसे लूट और हत्या का मार्ग अपनाने को नहीं कहा। आप स्वेच्छा से जो कुछ करते हैं, उसके फल से हमारा क्या सम्बंध?" अंगुलिमाल का स्वर एकदम बदला हुआ था। वह परलोक के भय से भीतर ही भीतर काँप रहा था।

—"उन्होंने ठीक कहा है अंगुलिमाल! संसार में सब को अपने भले-बुरे कृत्य का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। उसमें कोई भागीदार हो ही नहीं सकता। तुमने इस घोर पाप में जीवन का एक बड़ा भाग खो दिया। परन्तु अभी विलम्ब नहीं हुआ। पाप का मार्ग छोड़कर अब भी तुम अपने आप को सुधार सकते हो। भगवान की भक्ति का सहारा लेकर इसी जन्म में अपने सारे पाप समाप्त भी कर सकते हो।"

अंगुलिमाल का हृदय-परिवर्तन हो चुका था। अब वह एक दूसरा ही व्यक्ति था। दूसरे ही क्षण वह "अंगुलिमाल" उसके गले से निकल कर एक ओर जमीन पर पड़ी थी और उसे गर्व से धारण करने वाला दस्यु अंगुलिमाल उन भद्र पुरुष के चरणों में लोट रहा था। कल्याण के मार्ग पर चलने का संकल्प ले रहा था।

व्यक्ति विवेक का सहारा लेकर और धर्म पर आस्था बनाकर अपने जीवन में कितना बड़ा परिवर्तन कर सकता है, वह नर से नारायण बनने की दिशा में आगे बढ़ सकता है, इसका एक उदाहरण बना अंगुलिमाल।

हिंसा के भेद—

यह सृष्टि सूक्ष्म और स्थूल, स्थिर और जंगम जीवों से ठसाठस भरी हुई है। यहां कोई स्थान, और कोई पदार्थ जीव-विहीन नहीं है, इसलिये मनुष्य को पूर्ण अहिंसक हो जाना संभव नहीं। मन-वचन और काय की प्रवृत्ति होती रहे और हिंसा न हो, ऐसा सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में हिंसा से बचकर, अहिंसा की ओर जीवन को प्रेरित करने के लिये जैन दार्शनिकों ने अल्पतम हिंसा वाली जीवन-पद्धति का आविष्कार किया है। उन्होंने व्यावहारिक ढंग से वर्गीकरण करके हिंसा के चार भेद किये हैं—

1. **संकल्पी-हिंसा**
2. **आरम्भी-हिंसा**
3. **उद्योगी-हिंसा**
4. **विरोधी-हिंसा**

1. संकल्प पूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देना या उसका वध करना "सकंल्पी-हिंसा" है। आतंकवाद, साम्प्रदायिक दंगों, जाति विरोधी हमलों और मांस-भक्षण के लिये की गई शिकार आदि प्रवृत्तियों में होने वाली हिंसा इस परिभाषा में आती है। धार्मिक अनुष्ठानों का बहाना लेकर की जाने वाली बलि आदि भी संकल्पी हिंसा है। मांस-भक्षण भी इसी कोटि में आता है।
2. अपने जीवन के लिये अनिवार्य कार्यों में, भोजन बनाने, नहाने-धोने, वस्तुओं को उठाने-रखने, उठने-बैठने, सोने तथा चलने-फिरने में अपरिहार्य रूप से जो जीव-घात होता है उसे "आरम्भी-हिंसा" कहा गया है।
3. आजीविका उपार्जन के लिये नौकरी में, खेती में और उद्योग-व्यापार में अपरिहार्य रूप से जो जीव-हिंसा होती है वह सब "उद्योगी-हिंसा" की परिभाषा में आती है। इसमें यह स्मरणीय है कि अहिंसा का समर्थक व्यक्ति अपनी आजीविका के लिये ऐसे ही कार्य-व्यापार चुनेगा जिनमें कम से कम जीव-घात हो। अधिक हिंसा वाले कार्यों से वह सदैव अपने आपको तथा अपने परिवार को बचाने की चेष्टा करेगा।
4. अपने कुटुम्ब-परिवार की रक्षा करते हुए, अपने शील-सम्मान और सम्पत्ति की रक्षा करते हुए, अथवा धर्म तथा देश के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए, किसी आततायी या आक्रमणकारी का सामना करते समय जो हिंसा करनी पड़े वह "विरोधी-हिंसा" है।

साधक को गृहस्थ अवस्था में अपनी आजीविका के लिये, अपने परिवार तथा समाज के लिये, और अपने राष्ट्र-धर्म तथा धर्मायतनों के लिये, बहुत से कर्त्तव्य-पालन करने पड़ते हैं। उपरोक्त चारों प्रकार की हिंसा का त्याग कर देने पर उन कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए गृहस्थ को मात्र संकल्पी-हिंसा के त्याग का उपदेश दिया गया

है। उसके लिये आरम्भी-हिंसा अपरिहार्य मानी गई है तथा विरोधी और उद्योगी-हिंसा को भरसक बचाना और आपत्-धर्म मानकर उसमें प्रवृत्त होना उसके विवेक पर छोड़ दिया गया है।

जीवन से पलायन नहीं है अहिंसा—

अहिंसा की साधना में लगा हुआ गृहस्थ हिंसा के लिये हिंसा नहीं करेगा। "संकल्पी-हिंसा" उसके आचरण से निकल जायेगी। वह व्यापार अथवा नौकरी आदि के द्वारा अपने परिवार की आजीविका का उपाय करेगा। परिवार की पालना और सुरक्षा करेगा, तथा अपने समाज पर, अपने देश, धर्म और साधु-संतों पर, तथा तीर्थों-मन्दिरों पर आने वाली बाधाओं का समुचित रूप से निराकरण करेगा। वह अपने राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा के लिये आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र भी उठायेगा। मारेगा भी और मरेगा भी। फिर भी इससे उसकी अहिंसा कहीं खण्डित नहीं होती।

मन में गौरवान्वित होकर विचारना कि "मैंने अमुक जीव का घात किया है", और लज्जित होकर पश्चाताप करना कि— "नहीं चाहते हुए, बहुत बचाते हुए भी, आज मेरे द्वारा अमुक जीव का घात हो गया है", इन दोनों मनस्थितियों में बड़ा अन्तर है। "हिंसा करना है, करके रहूंगा" और "हिंसा से बचना है, मुझे हिंसा करनी पड़ रही है" इन दोनों संकल्पों में जो अंतर है, वही गृहस्थ को छोटी-मोटी अपरिहार्य हिंसा के बावजूद 'अहिंसक' बनाये रखता है। वह हिंसक नहीं है। हिंसा उसे करनी पड़ रही है। कर्त्तव्य भावना से कठोर होता है।

अहिंसा से व्यक्ति का जीवन निष्पाप बनता है, और प्राणि-मात्र को अभय का आश्वासन मिलता है। इस व्यवस्था से प्रकृति के संतुलन को बनाये रखने में भी सहायता मिलती है। पर्यावरण को संरक्षण मिलता है। इसीलिये तो संतों ने मनुष्य के संयत आचरण को जीव-मात्र के लिये कल्याणकारी कहा है।

इस विधान से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं है। जीवन से पलायन भी अहिंसा का उद्देश्य नहीं है। अहिंसा तो जीवन को व्यावहारिक और संतुलित बनाते हुए स्व और पर के घात से बचने का उपाय है। मानव में मानवता की प्रतिष्ठा का उपाय अहिंसा है।

जीवों के दो प्रकार : त्रस और स्थावर–

संसार के समस्त प्राणी "त्रस" और "स्थावर" के रूप में दो प्रकार के हैं। कहीं-कहीं इन्हें स्थावर और जंगम जीव भी कहा गया है। स्वत: जो चल-फिर नहीं सकते ऐसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति ये पांच स्थावर या स्थिर जीव हैं। इनके अतिरिक्त जो चलते-फिरते दिखाई देते हैं वे सब त्रस या जंगम जीव हैं। अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणुओं से लगाकर, जलचर, नभचर और थलचर, पशु-पक्षी, मनुष्य और देवता आदि सृष्टि के समस्त प्राणी इस त्रस या जंगम की परिभाषा में आते हैं।

साधक को अपना जीवन-निर्वाह करने के लिए जो कार्य करने पड़ते हैं उनमें स्थावर जीवों की हिंसा निरंतर होती रहती है। वह जीवन की अनिवार्यता है, अत: उसके त्याग का उपदेश नहीं दिया गया। इतनी अपेक्षा अवश्य की गई है कि अहिंसा का आदर करने वाला व्यक्ति अग्नि, जल, वायु और वनस्पति आदि का भी यत्नाचार पूर्वक उपयोग करेगा। उसके आचरण से इन स्थावर जीवों का भी निरर्थक विनाश नहीं होगा। उसकी असावधानी या लापरवाही से यदि इन स्थावरों का भी आवश्यकता से अधिक घात होता है तो वह अपराध है।

त्रस जीवों की रक्षा के लिये तो साधक को प्रतिक्षण सावधान रहना होता है। सुविचारित जीवन-शैली में कहीं भी, एक भी त्रस-जीव का विघात अनिवार्य नहीं है। उससे तो बचना ही चाहिए।

आज टी.वी.-रेडियो, नल-बिजली, पंखा-कूलर, हीटर, गैस और स्टोव हमारे जीवन की प्राथमिक आवश्यकता में आते हैं। उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु लापरवाही पूर्वक कई बार उनका जो निरर्थक-प्रयोग होता रहता है, बिना जरूरत वे खुले पड़े रहते हैं, उसे रोककर हम अहिंसा के कुछ अधिक निकट पहुंच सकते हैं। वह सब राष्ट्रीय अप-व्यय है, अत: उसे रोकना एक तरह की देश-सेवा भी कही जा सकती है।

हिंसा के दोष का निर्णय उसकी भावना के आधार पर ही किया जाता है। यह तो पहले ही समझा जा चुका है कि हिंसा की नींव चार कषायों, क्रोध-मान-माया-लोभ पर आधारित है। कषाय होती है तो हिंसा होती है। कषाय नहीं होती तब हिंसा भी नहीं होती। कषाय

जितनी कम होगी, हिंसा भी उतनी ही कम होगी।

इस प्रकार हिंसा का स्तर निर्धारित करने के दो साधन हैं– जीव का आपसी अन्तर और कषाय की मात्रा। यदि सभी जीवों की हिंसा का कुफल समान होता, या हिंसा का पाप हिंसित जीवों की संख्या पर निर्भर होता, तो एक व्यक्ति जो दो-चार गाजर-मूली उखाड़ लेता है, और दूसरा व्यक्ति जो एक मनुष्य की हत्या कर देता है, दोनों को समान पापी माना जाता। बल्कि मनुष्य का हत्यारा कुछ कम पापी माना जाता क्योंकि उसने सिर्फ एक प्राणी की हिंसा की है। परन्तु ऐसा नहीं होता। केवल इसलिए कि जिनका विघात हुआ है उन दोनों जीवों के स्तर में अंतर है।

स्थावर-जीव की हिंसा के समय उसकी ओर से न कोई प्रतिकार होता है, न किसी तरह के दुख की भावना व्यक्त होती है, इसलिये पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि और वनस्पति की हिंसा के समय हिंसक के मन में विशेष क्रूरता या कषाय आना अनिवार्य नहीं है। इसीलिये उस हिंसा का फल भी अल्प है। जैसे-जैसे हम एक-इन्द्रिय से पंच-इन्द्रिय प्राणी की हिंसा की ओर बढ़ते हैं, वैसे ही वैसे कषाय की मात्रा बढ़ती जाती है, परिणामों में क्रूरता अनिवार्य होती जाती है। अतः उसमें उत्तरोत्तर अधिक हिंसा होती है। उसका फल भी वैसा ही अधिक होता है।

नई सभ्यता का अभिशाप : गर्भपात

विज्ञान ने एक ओर जहाँ हमें सुख-सुविधाओं के अनेक उपाय प्रदान किये हैं वहीं दूसरी ओर कुछ अभिशाप भी दिये हैं। यहां मुझे एक ऐसे अभिशाप की ओर आपका ध्यान दिलाना है जो अमानवीय तो है ही, घोर पैशाचिक भी है।

परिवार-नियोजन के लिये एक उपाय निकाला गया है गर्भपात। फिर विज्ञान ने एक और शोध की जिसके द्वारा यह जाना जा सकता है कि गर्भस्थ शिशु बेटा है या बेटी। निरंतर बढ़ती हुई जन्म-दर से घबराई सरकार, जब गर्भ-निरोधक उपायों से अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाई तब उसने गर्भपात जैसी हत्यारी-प्रक्रिया को कानून का संरक्षण दे दिया। यद्यपि सरकार ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में, कुछ शर्तों के साथ ही गर्भपात को जायज माना है, परन्तु जिस देश में कानून

की धज्जियाँ उड़ा कर हर प्रावधान का दुरुपयोग करने की प्रथा पड़ गई हो; वहाँ यही कानून कैसे सुरक्षित रहता?

"सत्तर रुपए में सुरक्षित गर्भपात" जैसे बोर्ड लगाकर, तरह-तरह के विज्ञापन प्रसारित करके, आज गली-गली में ये मानवता के स्लाटर-हाउस खुलते जा रहे हैं। सरकार की विवेक-हीनता से आज हमारे देश में गर्भपात कराना नाई की दूकान पर जाकर बाल कटाने जैसा सुगम और ब्यूटी-पॉर्लर में जाकर श्रृंगार कराने जैसा सस्ता शौक हो गया है। अवैध गर्भ-धारण अब लाइलाज मर्ज नहीं रह गया। उससे मुक्ति पाने का यह उपाय निकल आने से व्यभिचार की प्रवृत्ति निरंकुशता की हद को छूने जा रही है। दम्पति गर्भस्थ शिशु का लिंग-परीक्षण करा लेते हैं और यदि वह शिशु उनकी अभिलाषा के अनुकूल नहीं है तो गर्भपात के माध्यम से उसकी हत्या कर देते हैं।

कितनी बड़ी विडम्बना है कि अपनी विलास-वृत्ति पर अंकुश लगाने के बजाय, आज नारी इतनी निर्मम हो रही है कि वह मातृत्व को कलंकित करने में भी हिचकती नहीं है।

पूरा मनुष्य है गर्भस्थ-शिशु—

गर्भपात के पक्ष में प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि गर्भस्थ-भ्रूण मानव-शरीर के निर्माण की एक अविकसित या अर्द्ध-विकसित दशा है। गर्भपात कराने में सिर्फ उस निर्जीव शरीर का ही विनाश होता है, किसी प्राणी का नहीं। विज्ञान और कानून भले ही ऐसा मानते हों कि मनुष्य का जीवन उसके जन्म लेने के क्षण से प्रारम्भ होता है, परन्तु धार्मिक मान्यता ऐसी नहीं है। धर्माचार्य तो यह सिद्ध करते हैं कि गर्भ में आते ही वह भ्रूण कई अर्थों में एक सम्पूर्ण मनुष्य की गिनती में आ जाता है।

शास्त्रों का मत है कि यदि तीन महीने की अल्प-आयु में किसी शिशु का मरण होता है तो वास्तव में वह परलोक से एक वर्ष की आयु लेकर आया था। इस जन्म में उसने वह एक वर्ष की पूरी आयु भोगकर ही मरण किया है। नौ महीने माता के पेट में और तीन महीने धरती-माता की गोद में।

पुराण कथाओं में भी इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। महाभारत में अभिमन्यु की कथा इसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण है।

अर्जुन ने अपनी पत्नी सुभद्रा को चक्र-व्यूह में प्रवेश की विधि एक बार बताई थी। उस समय अभिमन्यु सुभद्रा के गर्भ में थे। उन्होंने वहीं उस विधि की धारणा कर ली थी। चक्र-व्यूह भेदने की कला पांडव-पक्ष में अर्जुन को छोड़कर कोई नहीं जानता था। अर्जुन ने यह कला कभी किसी को सिखाई भी नहीं। परन्तु अभिमन्यु ने माता के गर्भ में इसका जो विवरण सुना था उसी के आधार पर, कुरुक्षेत्र के युद्ध में उन्होंने चक्र-व्यूह में प्रवेश किया। व्यूह के बाहर निकलने की विधि जब अर्जुन सुना रहे थे, उस समय सुभद्रा की आंख लग गई थी, इसलिए वह कला अभिमन्यु के पास नहीं थी।

जैन दार्शनिकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि जीव की मनुष्य या पशु-पक्षी की पर्याय, माता के पेट में गर्भाधान के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। सभी पोतज और अण्डज प्राणियों में ऐसी ही प्रक्रिया है, इसलिये अण्डा भी जीव है। जितनी देर में हम एक बार साँस लेते हैं इससे भी कम समय में गर्भस्थ भ्रूण की प्राकृतिक संज्ञायें पर्याप्त रूप से सचेष्ट हो जाती हैं। वह साँस लेने लगता है और भूख, निद्रा तथा भय का संवेदन करने लगता है। वह एक पर्याप्त सक्षम-शिशु है।

वैज्ञानिकों ने भी पाया है कि गर्भपात के समय शिशु की चेष्टाओं में परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। उसके हृदय की धड़कन और साँस की गति असामान्य रूप से बढ़ जाती है। उसके शरीर में एक विशेष प्रकार की सिहरन होने लगती है। वह एक अशक्त और असहाय प्राणी है। बाहर आ गया होता तब भी अपने प्राण बचाने के लिये वह माँ की ही शरण तो लेता। किन्तु गर्भपात के समय जब वही माँ स्वयं उसकी हत्या में सहायक हो रही है, तब वह अबोध प्राणी डरने और सिहरने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है?

आज आवश्यकता इस बात की है कि गर्भ और गर्भपात के विषय में यह धार्मिक और वास्तविक पक्ष जन-जन तक पहुंचाया जाये। आधुनिकता की चकाचौंध में लिप्त आज की नारी को भी यह समझना चाहिये कि जिसे गर्भाशय से दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंका जा रहा है, वह कोई तुच्छ प्राणी नहीं है। वह इस सृष्टि का सबसे विकसित जीव है। वह पूरा मनुष्य है। वह आपकी सन्तान है। जिसे गर्भ में धारण किया है, अपने हाथ से उसका गला घोंट देना क्या राक्षसी कृत्य नहीं है? वह जीव यदि अपनी रक्षा नहीं कर पा रहा है तो यह भी

सोचें कि जब आपको इस हत्या के पाप का फल पड़ेगा तब आपकी रक्षा कौन करेगा?

यदि संयोग से आपको मनुष्य जन्म मिला है तो अपना विवेक भी जाग्रत रखिये। ऐसा दुष्कृत्य मत कीजिए जिससे सारी नारी जाति पर कलंक की कालिख लगती है।

सात्विकता का शत्रु : मांसाहार

भोजन का हमारे विचारों के साथ गहरा सम्बंध है। यह कहावत बहुत सार्थक है कि–

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन, और
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी ।

इसीलिये मन की पवित्रता को बनाये रखने के लिये खान-पान की शुद्धता पर जोर दिया जाता है। यदि हम अपने जीवन में, और अपने व्यवहारों में सात्विकता चाहते हैं तो हमें अपना भोजन-पान सात्विक रखना ही होगा।

मांस-भोजन की उत्पत्ति क्रूरता के बिना नहीं होती। कटने वाले प्राणी की वेदना और काटने वाले की क्रूरता, दोनों का प्रभाव उस भोजन पर होता है। इसीलिये मांसाहारी मनुष्य के मन में कहीं न कहीं, किसी न किसी हद तक, ऐसे क्रूर परिणाम होते हैं जिनका सात्विकता से कोई मेल नहीं है।

आज हमारे देश में हिंसा का जो नंगा-नाच हो रहा है, किसी हद तक मांसाहार का अतिशय प्रचार-प्रसार भी उसका एक कारण है। पके-पकाये डिब्बा-बंद भोजन के नाम पर न जाने क्या-क्या अखाद्य हमारे भोजन में शामिल होता जा रहा है। फल-फूल की तरह गली-गली में अण्डों के ठेले घूमते दिखाते देते हैं। हमारी नई पीढ़ी में यह नया फैशन अभी कुछ ही वर्षों में देखते-देखते आया है।

चिन्ता की बात यह है कि चारित्रिक पतन को "आधुनिकता" और "शिक्षितपने की निशानी" मानकर आज का युवक उस पर लज्जित होने के बजाय अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता है। आज वैज्ञानिक विश्लेषण में हानिकर सिद्ध होने के बाद मांसाहार जब पश्चिमी देशों में कम हो रहा है, तब हमारे यहां वह छूत के रोग की तरह फैल रहा है। उसके दुष्परिणाम भी सामने हैं।

हिंसा के और भी नये-नये तौर-तरीके, क्रूरता के अमानवीय और घृणित उदाहरण, रोज देखने-सुनने को मिल रहे हैं। प्लेन गिराकर, ट्रेनें और बसों जलाकर, सैकड़ों शान्ति-प्रिय निर्दोष लोगों को अकारण मौत के घाट उतार देना सामान्य बात हो गई है। अपनी ही माता-बहिनों के साथ पैशाचिक दुष्कृत्य और भोले-नादान दूध-मुँहे बच्चों के जीवन के साथ राक्षसी बर्ताव की खबरों से हमारे अखबार भरे रहते हैं।

यह तथ्य कम महत्व-पूर्ण नहीं है कि इस प्रकार के दुष्कृत्यों में लगे हुए प्रायः शत-प्रतिशत लोग मांसाहारी हैं। भले ही मांसाहार इसका एक मात्र कारण न हो, परन्तु प्रमुख कारण तो है ही। शाकाहारी समुदाय के द्वारा समाज में कभी, कहीं ऐसे अमानवीय कृत्यों की खबरें नहीं सुनी गईं। मांसाहार मनुष्य को अति-निर्दय और क्रूर बना देता है, इस तथ्य की पुष्टि के लिये और क्या प्रमाण चाहिये?

सभी धर्मों में मांसाहार-निषेध-

पशु-वध मांसाहार का अनिवार्य अंग है। पशु-वध के बिना मांसाहार की कल्पना कभी नहीं की जा सकती। ऋषियों और संतों ने आचार-संहिताओं में जगह-जगह पर पशु-वध को पाप बताया है और मांसाहार को नृशंस-प्रवृत्ति बताते हुए उसका निषेध किया है।

मनुस्मृति में आर्य-खण्ड और म्लेच्छ-खण्ड की परिभाषा करते हुए लिखा गया कि-"जहां कस्तूरी मृगों का शिकार होता है वह म्लेच्छ-खण्ड है, और जहां वे निर्भय विचरते हैं वह आर्य-खण्ड है"। महाभारत में यह भी कहा गया है कि- "मारे जाने वाले पशु के शरीर पर जितने रोम होते हैं, पशु-घातक को उतने हजार वर्ष तक नरक में दुख भोगने पड़ते हैं"-

यावंति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत,
तावद् वर्ष-सहस्राणि पच्यते पशु-घातकः ।

—महाभारत

मांस-भक्षण को निन्दनीय कृत्य बतलाते हुए यह स्पष्ट कहा गया कि- "दूसरे प्राणी के मांस से जो अपने शरीर का रक्त-मांस बढ़ाने की अभिलाषा करते हैं, संसार में उनसे अधिक क्षुद्र कोई नहीं है। वे तो अत्यंत निर्दय मनुष्य हैं"-

स्वमांस परमांसेन, यो वर्धयितुमिच्छति,
नास्ति क्षुद्रतस्तस्मात, स नृसंसतरोनरः ।

—महाभारत अनुशासनपर्व/116

विष्णु-पुराण में मांसाहारी मनुष्य को दूसरे के जीवन पर निर्वाह करने वाला निन्दनीय बताते हुए कहा गया कि— "ऐसा व्यक्ति अगले जन्मों में नीच कुल में उन्पन्न होकर अल्पायु और दरिद्रता का जीवन व्यतीत करेगा"—

अल्पायुषो दरिद्राश्च, परकर्मोंपजीविनः,
दुष्कुलेषु प्रजायन्ते, ये नराः मांसभक्षकाः ।

—विष्णु-पुराण

गुरु ग्रन्थसाहब में बताया गया है कि— "जब थोड़ा सा रक्त लग जाने से पूरा वस्त्र कलंकित और अपवित्र हो जाता है तब जो मनुष्य रक्त-मांस का भोजन करेगा उसका चित्त कैसे निर्मल रह सकता है?"—

जो रत लागै कापड़ा, जामा होय पलीत,
जो रत पीवै माणसा, तिन क्यों निर्मल चीत ।

—गुरु ग्रन्थसाहब/15-140

संत कबीर ने सात्विक खान-पान पर जोर देते हुए मांस-भक्षण का तीव्र-विरोध किया है। उनके मांसाहार-विरोधी उपदेश प्रायः सभी धर्मों-सम्प्रदायों में मान्य किये गये और आदर के साथ दूसरे धर्म-ग्रन्थों में उन्हें सम्मिलित किया गया। सिख-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी उनकी ऐसी वाणी संकलित है। "गुरु ग्रन्थ साहब" में कबीर की चार पंक्तियां एक जगह आती हैं—

—"मांस के लिये बेकसूर जीवों की हत्या बड़ी निर्दयता है। तुम भले ही इसे हलाल कहकर अपने मन को भरमा लो, परन्तु है तो यह अपराध। एक दिन तुम्हें भगवान के सामने इसका जवाब देना होगा, तब सोचो तुम्हारी क्या दशा होगी"?—

कबीर किया सो जुलुम है, कहतौं रहो हलाल,
दफ्तर लेखा माँगिये, तब होयगो कौन हवाल ।

उन्होंने कहा— "स्वादिष्ट खिचड़ी, जिसमें अमृत जैसा नमक पड़ा है, संतोष से खाना चाहिये। अपना पेट भरने के लिये दूसरों का गला काटना उचित नहीं"—

खूब खाना खीचड़ी, माँहि पड़ा टुक लोन,
मास पराया खाइ कर, गला कटावै कौन ?

अपने मांसाहार-विरोधी विचारों को शब्दों का कठोरतम जामा पहनाते हुए कबीर ने स्पष्टतः मांसाहारी को नरक का पात्र बताया—

—"जिसने जरा सा भी मांस-भक्षण किया है, चाहे वह करोड़ों गोदान करे, चाहे अंत समय में काशी-करवट से ही अपने जीवन की समाप्ति करे, उसे नियम से नरक ही जाना पड़ेगा"—

तिल भर मछरी खायकै, कोटि गऊ दे दान,
कासी करवट लै मरै, तौ भी नरक निदान।

कृत-कारित-अनुमोदना और समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ से मांस-भक्षण में सहायक सभी लोगों को वधिक या हत्यारा कहा गया है। उन सबको पाप का भागीदार बताया गया है—

—"मांस के लिये प्राणी-वध की अनुमति देने वाला, उसे मारने वाला, काट-काट कर पृथक करने वाला, मांस बेचने वाला, खरीदने वाला, लाने या परोसने वाला और स्वयं खाने वाला, जीव-वध में ये सभी घातक हैं सभी समान रूप से हिंसक हैं"—

अनुमंता, विशंसिता, निहंता, क्रय-विक्रयी,
संस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः ।

अहिंसा में विश्वास रखने वालों को और पाप से बचने की अभिलाषा रखने वालों को पशु-वध और मांस-भक्षण से बचना चाहिये। मांस-मछली, अण्डा और मदिरा, तामसिक आहार कहे गये हैं। इनके सेवन से आचरण में तामसिक-वृत्तियों का ही प्रादुर्भाव होता रहता है।

विश्व-विख्यात मनीषियों के विचार

पाइथागोरस–

कुछ विद्वानों का विचार है कि पाइथागोरस पश्चिम में शाकाहारी भोजन का उपदेश देने वालों का पितामह था। वह स्वयं दयालु और कोमल-हृदय था। कहा जाता है कि एक बार उसने एक कुत्ते की चीखें सुनी। उसने मारने वाले से कहा, "इसे मत मारो, इसकी चीखों में मुझे एक दोस्त के रोने की आवाज सुनाई देती है।"

पाइथागोरस एक ऐसा व्यक्ति था जिसने हमें अपनी थाली में जानवरों का मांस रखने तक की सख्त मनाही की है। उसने जोरदार शब्दों में कहा है–

–"दोस्तो! अपने शरीर को पापपूर्ण भोजन के द्वारा नापाक या गन्दा मत करो। हमारे पास अनाज है, सेब, अंगूर आदि फलों से लदे वृक्ष हैं। मिठास और सुगन्धि से परिपूर्ण कन्द-मूल तथा सब्जियां हैं, जो अग्नि पर पकाई जा सकती हैं। दूध तथा खुशबूदार शहद की भी कमी नहीं है। ऐसे पवित्र, निर्दोष आहार से धरती भरपूर है और ऐसी दावतों का सामान प्रस्तुत करती है, जिसे प्राप्त करने के लिये किसी का रक्त बहाने या किसी की हत्या करने की जरूरत नहीं।"

पाइथागोरस सुबह के खाने में रोटी और शहद तथा शाम को कच्ची तथा पकाई हुई सब्जियां लेता था। इएम्बोलिनस पाइथागोरस की जीवनी में लिखता है कि वह मछुओं को पैसे देकर पकड़ी हुई मछलियां वापस समुद्र में छुड़वा देता था। वह जंगली रीछों को सहलाता था। वह मक्का और अनाज पर गुजारा करता था और पशुओं के वध तथा शराब से नफरत करता था। पाइथागोरस के अनुसार निरामिष अथवा शाकाहारी भोजन मनुष्य में शान्ति पैदा करता है तथा वासनापूर्ण निम्न वृत्तियों को भड़कने से रोकता है।

एक अन्य ग्रीक दार्शनिक तथा कवि सैनेका का कथन है कि पाइथागोरस मांस से परहेज करता था। वह पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पाइथागोरस के भोजन-सम्बन्धी विचारों का आधार मानता था। सैनेका कहता है कि– "मुझ पर भी इन विचारों का प्रभाव पड़ा और मैंने मांस खाना त्याग दिया। एक साल के अन्दर यह आदत उतनी ही सुखद लगने लगी जितनी कि यह आसान भी थी। मुझे महसूस होने लगा कि मेरा मन पहले से अधिक सजग और चेतन हो गया है।"

प्लूटार्क–

प्लूटार्क कहता है– "क्या तुम सचमुच यह पूछने का दुस्साहस कर सकते हो कि पाइथागोरसमांस क्यों नहीं खाता था? मैं तो इस बात पर हैरान हूं कि वह मनुष्य–जिसने दुनिया में पहली बार मांस खाया, पता नहीं किस दुर्घटना का शिकार था। उसकी आत्मा किस दिशा में थी कि उसने जानवरों का मांस अपने ओठों पर छुआया और दूसरों में बरताया।"

–"जो पशु मारे जाने से पहले प्रसन्नतापूर्वक विचरते, उछलते-कूदते फिरते थे, उसने उन पशुओं के निष्प्राण और गलित अंगों को खुराक का नाम कैसे दे दिया? उसकी आंखें जानवरों को गलते कटते, उनकी खाल खिंचते और उनकी बोटी-बोटी कटते देखना सहन कैसे कर सकीं? उसकी नाक उस बदबू को कैसे बरदाश्त कर सकी? यह सब दुर्गन्ध और गन्दगी क्या उसके मुंह का स्वाद न बिगाड़ सकी? मनुष्य कैसे पशुओं के घावों में से वसा और खून चूस सका?"

–"हम ऐसे निर्दोष जीवों को कैसे मारते हैं, जिन्होंने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा। जिनके न तीखे दांत हैं, न विषैले डंक। जिनको निश्चय ही प्रकृति ने सुन्दरता और शोभा के लिये बनाया है। परन्तु हमें शर्म नहीं आती। थोड़े से मांस की खातिर हम उनसे सूर्य का प्रकाश और जीवन तक छीन लेते हैं, जिसके कि वे अपने जन्म से ही अधिकारी हैं।"

लिनार्डो दा विंसी–

महान चित्रकार, कलाकार, विचारक और वैज्ञानिक लिनार्डो दा विंसी भी कट्टर शाकाहारी था। उसे आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का प्रथम शाकाहारी कहा जाता है। वह कहता था कि कोई ऐसी चीज मत खाओ जिसमें रक्त मिला हो और न ही किसी जीव की हिंसा करो। वह हर प्राणी के जीवन को पवित्र मानता था। उसने कहा– "जो दूसरों की कद्र नहीं करता, वह खुद भी जिन्दा रहने का हकदार नहीं।"

–"प्रकृति नहीं चाहती कि एक जीव दूसरे का घात करे। भेड़ों, बकरियों, गायों आदि को खाने के अन्याय के प्रति वह बहुत घृणा प्रकट करता था। विंसी कहता है, "एक समय आयेगा जब मनुष्य पशुओं के वध को उसी प्रकार दुष्ट कर्म, हत्या समझेगा, जिस प्रकार कि आज मनुष्य की हत्या को समझा जाता है।"

वैगनर–

प्रसिद्ध संगीतकार वैगनर भी शाकाहार का दृढ़ समर्थक था। वैगनर मांस, शराब और तम्बाकू तक के विरुद्ध था। पशु-वध के विरुद्ध चलने वाले ब्राह्मणों और बौद्धों की प्रशंसा करते हुए वह कहता है कि– "बौद्ध इतने दृढ़ शाकाहारी थे कि दुर्भिक्ष के दिनों में पशुओं की मौत उनको पालने वालों की मौत के बाद ही होती थी। उसकी अपने शिष्यों को सख्त हिदायत थी कि कभी मांसाहार न करें। उसके कई शिष्य और प्रशंसक शाकाहारी थे।"

एलबर्ट स्वाइट्ज़र–

प्रसिद्ध दार्शनिक, चिन्तक तथा 1952 में शान्ति के लिए नोबल प्राइज के विजेता एलबर्ट स्वाइट्ज़र पशु-हत्या तथा मांसाहार के सख्त खिलाफ थे। कैद हुए जानवरों को, तथा सरकस आदि में करतब दिखाते जानवरों को देखना तक उन्हें बरदाश्त नहीं था। वे फूल तोड़ने को भी अपराध मानते थे।

टाल्स्टाय–

प्रसिद्ध विद्वान, लेखक तथा दार्शनिक लियो टाल्स्टाय अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्षों में पक्के शाकाहारी हो गये थे। उन्होंने कहा– "जब मैंने परमात्मा में विश्वास करना शुरू कर दिया तभी मेरा असली जीवन शुरू हुआ। जब मेरे अन्दर परमात्मा में विश्वास नहीं था उस समय मैं वास्तव में मुर्दा था।"

सन् 1982 में टाल्स्टाय ने शिकार का पूर्ण त्याग कर दिया। यहां तक कि उसने अपने बीते हुए जीवन पर पश्चाताप किया, और शिकार के शौकीन अपने दो पुत्रों, सर्जे और इलया से अलग रहने लगा।

टाल्स्टाय ने अपने एक लेख में कहा– "संसार भर में इस्तेमाल की जा रही हशीश, अफीम, शराब और तम्बाकू का कारण यह नहीं है कि इनसे स्वाद, रस, मनोरंजन या खुशी मिलती है। इनके इस्तेमाल का कारण यह है कि मनुष्य अपनी आत्मा या विवेक-बुद्धि की आवाज से डरता है और उससे बचने के लिये इन वस्तुओं का सहारा लेता है।"

जार्ज बर्नार्ड शॉ–

जब ए.जे. फर्नीवाल ने ऑक्सफोर्ड के यूनिवर्सिटी कालेज में शैले समाज की स्थापना की तो प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान्, आलोचक तथा नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ भी इसमें शामिल हो गये। इस सोसायटी की पहली सभा में ही शॉ ने घोषणा की कि– "मैं भी शैले की तरह शाकाहारी भोजन में दृढ़ विश्वास रखता हूं।"

एक बार बर्नार्ड शॉ सख्त बीमार हो गये। डाक्टरों ने उनकी प्राण-रक्षा के लिये उनसे मांस खाने का अनुरोध किया, परन्तु शॉ ने उत्तर दिया– "मेरी हालत अजीब है। मेरे जीवन को उसी दशा में बच सकने का भरोसा दिलाया जा रहा है जब मैं गो-मांस खाना स्वीकार करूं। परन्तु दूसरों के रक्त और मांस के भक्षण से तो मैं मौत बेहतर समझता हूं। मैंने अपनी अंत्येष्ठि के लिये वसीयत कर दी है। मैं चाहता हूं कि मेरी शव-यात्रा में शोक प्रकट करने वाली गाड़ियों और मोटरों की जगह गायों, भेड़ों, बकरियों के समूह और मुर्गियों के टोले हों। उनके गले में सफेद गुलूबन्द हों जो उस व्यक्ति के लिये सत्कार प्रदर्शन कर रहे हों जिसने अपने साथी प्राणियों को खाने के बदले मर जाना बेहतर समझा।"

मांस खाने वाले लोगों का हाल देखकर जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक छोटी-सी दर्द भरी कविता लिखी है जिसमें उन्होंने लिखा–

–"हम मांस खाने वाले लोग ऐसी चलती-फिरती कब्रें हैं, जिनमें वध किये हुए उन जानवरों की लाशें दफ़न की गई हैं, जिन्हें हमारे स्वाद के लिये मारा गया है। मुर्दों का मांस नोंच-नोंच कर खाने वाले कौओं की तरह हम अपने आपको मांस पर पालते हैं। हमें इस बात की चिन्ता या परवाह नहीं है कि इसमें जीवों को कितनी भयानक पीड़ा होती है"–

We are living graves of murdered beasts,
Slaughtered to satisfy our appetites.
Like carrion crows we live and feed on meat,
Regardless of the suffering and the pain.

George Bernard Shaw

रेवरेण्ड चाल्र्स डब्ल्यू. लेडवीटर–

सब धर्मों की यह शिक्षा है कि मनुष्य को हमेशा परमात्मा की इच्छा की ओर प्रवृत्त होना चाहिये, उसे बुराई के मुकाबले में नेकी की ओर, अथवा पतन के मुकाबले में विकास की ओर चलना चाहिये। जो मनुष्य स्वयं को विकास के पक्ष में दृढ़ रखता है, वह जानता है कि– "जीवों की हत्या करना कितनी बड़ी दुष्टता है। वह जानता है कि जानवरों में जो जीवन है वह भी प्रभु की देन है, और संसार में सभी प्रकार का जीवन ईश्वरीय है, इसलिये सभी पशु-पक्षी वास्तव में हमारे बन्धु हैं। हमें अपने स्वाद की खातिर उनके प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है। हमें कोई अधिकार नहीं है उन्हें अपार यातना और कष्ट पहुंचाने का।"

अलबर्ट आईन्स्टाइन–

महान वैज्ञानिक, विचारक तथा विद्वान अलबर्ट आईन्स्टाइन कहते हैं– "मेरा दृढ़ विश्वास है कि शाकाहारी जीवन की रीति मनुष्य के स्वभाव पर इतना लाभप्रद असर डालती है कि यदि इसे अपना लिया जाये तो सम्पूर्ण मानव-जाति की अवस्था सुधर जायेगी।"

महात्मा गांधी–

–"मैं मांस खाना किसी हालत में भी आवश्यक नहीं समझता। किसी परिस्थिति में भी मनुष्य के लिये मांस खाना उचित नहीं है। हम पशुओं से ऊंचे हैं। मांस खाकर निचली जीव-श्रेणी के समान कर्म करना हमारे लिये उचित नहीं है।"

सुभाषचन्द्र बोस–

–"हमारे ऋषि-मुनि कहते चले आये हैं कि अहिंसा के लिये मांसाहार का त्याग आवश्यक है। सिर्फ ऋषि-मुनि ही क्यों, परमात्मा ने स्वयं कहा है। क्या किसी को उस परमात्मा के प्राणियों का वध करने का अधिकार है? क्या यह बहुत बड़ा अपराध नहीं? मैं उन लोगों से सहमत नहीं जो कहते हैं कि मांस न खाने से शारीरिक बल घटता है। हमारे ऋषि-मुनि इतने अज्ञानी नहीं थे कि वे मनुष्य के लिये लाभदायक होने पर भी उसे मांस-मछली खाने की मनाही करते।"

डाक्टर एनी बेसेन्ट–

प्रसिद्ध थिओसाफिस्ट श्रीमती एनी बेसेन्ट भी कट्टर शाकाहारी थीं। वे अपनी पूरी आयु इस मार्ग पर दृढ़ रहीं। थिओसॉफी मानवीय बन्धुत्व का उपदेश देती है और किसी भी पशु, पक्षी अथवा जीव को मारने की मनाही करती है। एनी बेसेन्ट का कथन है कि–

–"बगैर किसी पशु को मारे मांस प्राप्त नहीं हो सकता। पशु को या तो हम कत्ल करते हैं या किसी दूसरे से उसका वध करवाते हैं। हम अपने आपको बहुत कोमल-हृदय समझते हुए, स्वयं पशु वध करने से झिझकते हैं और किसी दूसरे पर जिम्मेदारी डाल देते हैं। इस प्रकार वध करने वाले व्यक्ति के नैतिक पतन के लिए भी हम खुद जिम्मेदार हैं।

अण्डा : जहरीला और अखाद्य

अभी पिछले दशक तक शाकाहारी समुदाय में अण्डा पूरी तरह निषिद्ध माना जाता था। अण्डा स्वास्थ्य के लिये अहितकर और विशेषकर बालकों के लिये अत्यंत हानिकर बताया गया है। पर इधर कुछ वर्षों में उसका प्रचार बढ़ रहा है। चिन्ता की बात यह है कि व्यापारिक स्वार्थवश अण्डे को "शाकाहार" और "फलाहार" विज्ञापित करके व्यापक भ्रान्ति फैलाई जा रही है।

अण्डा शाकाहार नहीं है–

आज व्यापारिक-स्वार्थ वश जोर-शोर से यह प्रचार किया जा रहा है कि जो अण्डा फलीकरण के बिना प्राप्त होता है, मुर्गे के संयोग के बिना ही पैदा हुआ है, उसमें जीवन होना कतई सम्भव नहीं है। इसीलिए इसमें जीव की हिंसा नहीं होती। अतः इसे "अहिंसक" भी कह सकते हैं और "शाकाहारी" भी।

यदि प्राणि-विज्ञान और विशेषतः भ्रूण-विज्ञान के विशेषज्ञों की राय ली जाय तो निःसन्देह प्रमाणित होगा कि अण्डा फलीकरण से पैदा हुआ हो अथवा उसके वगैर, उसमें जीव तो अनिवार्य रूप से है। जीव के सारे लक्षण जैसे बढ़ना, सांस लेना, खुराक लेना आदि भी उसमें दिखायी देते हैं। और चूंकि वह मुर्गी के शरीर में पैदा होता है, अतः मांसाहार है।

कई वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि संसार का कोई अण्डा निर्जीव नहीं है, फिर चाहे वह निषेचित हो या अनिषेचित।

वस्तुतः अण्डे की उत्पत्ति बच्चे के सृजन के निमित्त होती है, मनुष्य की खुराक के लिए नहीं। अण्डे में हवा आने-जाने की नैसर्गिक व्यवस्था है। सफेद खोल के अन्दर बने सूक्ष्म छिद्रों से होकर ऑक्सीजन अन्दर जाती है और जरदी की भाप कार्बनडॉयक्साइड को बाहर फेंकती है। इससे अण्डे का भ्रूण जीवित रह कर विकास करता है। यही बात अनफर्टेलाइज्ड अण्डों पर भी लागू होती है। श्वासोच्छ्वास जीवन की निशानी है और जब भी यह अवरुद्ध होता है, अण्डा सड़ जाता है। वैज्ञानिक तमाम अण्डों में जीव मानते हैं। हर प्रकार से अण्डा गर्भरस है, अतः उसे शाकाहार के अंतर्गत गिनाना बहुत बड़ा धोखा है। यह अपने स्वार्थ के लिए फैलायी जाने वाली भयानक-भ्रान्ति है।

अण्डा हानिकारक भी है–

अण्डों में कोलेस्टोरोल की मात्रा इतनी अधिक होती है जिसके कारण दिल की बीमारी, उच्च-रक्तचाप, गुर्दों की बीमारी, पित्त की थैली में पथरी आदि रोग पैदा होते हैं। एक अण्डे में लगभग 4 ग्रेन कोलेस्टोरोल होता है। जब अण्डे खाये जाते हैं, तब खून में कोलेस्टोरोल की मात्रा बढ़ जाती है, जिसके कारण पित्ताशय में पथरी और दूसरी बीमारियां पैदा हो जाती हैं।

अण्डे में कैलशियम की कमी और कार्बोहाइड्रेट का अभाव होता है। इसी कारण ये बड़ी आंत में जाकर सड़न पैदा करता है।

त्वचा के अधिकांश रोगों का कारण, अण्डों का उत्पादन बढ़ाने के लिए मुर्गियों को दिया जाने वाला रसायनिक आहार है। पांच वर्ष से कम आयु के बच्चे को अण्डा देना जहर के समान है। इससे बच्चों की रोग प्रतिरोधी शक्ति कम हो जाती है और उन्हें लकवा मार जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।

अण्डे में प्रोटीन की मात्रा अधिक होने का प्रचार केवल भ्रांति है। अण्डे में प्रोटीन की मात्रा सोयाबीन, मूंगफली, दूध आदि से प्राप्त प्रोटीन की तुलना में बहुत कम है और वह निम्न स्तर का है।

सत्यानासी-व्यसन : मदिरा

मदिरा में असंख्य त्रस-जीवों की साक्षात् हिंसा होती है। पदार्थों को सड़ाये बिना मदिरा का निर्माण प्रायः नहीं होता। इसका निषेध करने का एक कारण और है कि इसके साथ अन्य अनेक मानसिक विकार और दुर्गुण भी मनुष्य में आ जाते हैं। अहंकार, भीति, घृणा, सनक, शोक, कामवासना और क्रोध आदि सारे विकार हिंसा की ही पर्याय हैं। वे सब मदिरा के पड़ोसी हैं। सदा उसके साथ ही रहते हैं—

> **अभिमान-भय-जुगुप्सा हास्य-अरति-शोक-काम-कोपाद्या,**
> **हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरक-सन्निहिताः ।**
>
> —अमृतचन्द्रस्वामी/पुरुषार्थ-सिद्धि उपाय/44

मधु के उत्पादन में मधु-मक्खियों की हिंसा होती है और मधु उन मक्खियों का उच्छिष्ट मल कहा जाता है, इसलिए मधु को भी अभक्ष्य माना गया है।

सूर्यास्त के बाद अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव वातावरण में संचरण करने लगते हैं। प्राकृतिक प्रकाश के अभाव में भोजन को पूरी तरह शोधना संभव नहीं होता। देर रात्रि में भोजन करने से शरीर को पूरा आराम भी नहीं मिल पाता। जीवन मात्र खाने-पीने के लिये नहीं है। जीने के लिये खाना है। इसलिए भी भोजन-पान की व्यवस्था संयमित और सीमित होनी चाहिए। यह नियंत्रण स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर है। इन्हीं सब कारणों से रात्रि भोजन का निषेध किया गया है।

इस प्रकार पंच-अणुव्रत की पालना के साथ मद्य-मांस-मधु के त्याग को "अष्ट-मूलगुण" कहा गया है। संतों का यह परामर्श है कि मानव-जीवन का सही लाभ लेने के लिये ये आठ मूलगुण हम सबके आचरण में होने ही चाहिए। इनके बिना अहिंसा-अणुव्रत का निर्वाह संभव नहीं है।

पाप का प्रवेश

हमारे जीवन में एक सौ आठ द्वारों से पाप का प्रवेश होता है। हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह, पांचों पापों में यह गणित बिठा लेना चाहिये।

क्रोध, मान, माया और लोभ,	:	ये चार कषाय भाव हैं।
मन, वाणी और शरीर	:	ये तीन साधन हैं।
समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ	:	ये तीन उपाय हैं और
कृत, कारित और अनुमोदना	:	ये तीन प्रकार हैं।

पापास्रव के यही (4×3×3×3 =108) एक सौ आठ भेद हैं।

शायद इसीलिये प्रभु-नाम जपने की माला में एक सौ आठ मनके होते हैं ताकि माला फेरते समय हम यह भावना करें कि– "एक सौ आठ प्रकार से आज मुझसे जो भी पाप हुआ हो, मैं उसका प्रायश्चित्त करता हूं और संकल्प करता हूं कि पापास्रव के ये एक सौ आठ द्वार मुझे अपने जीवन में रुद्ध करने हैं।"

क्या अनिवार्य हैं ये सारे द्वार–

यह प्रश्न उठता है कि कोई पाप-भावना जब मन में उदित होती है तब क्या यह अनिवार्य है कि उसके लिये ये सब द्वार खुल जायें? क्या उस विष-बेल को इतना फैलने से रोका नहीं जा सकता? क्या है उसका उपाय?

यह फैलाव बिलकुल अनिवार्य नहीं है। यह तो हमारी पाप-प्रियता के कारण, या असावधानी के कारण होता है। साधक तो संस्कारों में से उपजती पाप-भावनाओं को, उनके अहितकर स्वभाव का चिन्तन करके, वहीं मन में ही उनका शमन कर देता है। या फिर प्रभु-नाम का सहारा लेकर मन को अन्यत्र एकाग्र करना चाहता है। संतों का मन इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें प्रायः पाप-भावनाओं का उदय होता ही नहीं।

जब कर्म के उदय से, या संस्कार-वश, मन में विकार उत्पन्न हो, तब यदि हम होशो-हवाश में हों, हमारा विवेक जाग्रत हो, तो उस पाप-वृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है। विकारी मन के पीछे सक्रिय होने वाले वचन और देह को तो रोका ही जा सकता है। यद्यपि पाप का विमोचन मन की पवित्रता के बिना नहीं होता। वाणी की बनावटी पवित्रता और देह के वेष का तब तक विशेष महत्व नहीं है जब तक मन निष्पाप न हो। किसी कवि ने कहा है– "भाई, वेष बदलने से क्या होगा? पाप तो मन से गया नहीं। साँप केंचुली छोड़ भी दे तो उसके शरीर का विष तो नहीं छूटता?–

वेष तज्या तो क्या तज्या, राग तज्या नहिं वीर,
साँप तजै ज्यों केंचुली, विष नहिं तजत शरीर ।

लेकिन नहीं, एक दृष्टिकोण और भी है। मन के विकारी होने पर यदि वचन और काय उसका साथ न दें तो विकार का अधिक फैलाव नहीं होगा। उससे मन को भी सीख मिलेगी। वह रास्ते पर आ जायेगा। किसी ने कहा– "मन यदि वर्जित दिशाओं में जाता है तो जाने दें। भाई शरीर, तू तो उसके पीछे मत दौड़। यदि तू साथ नहीं देगा तो मन कर क्या लेगा? वाण कितना ही विषहरा क्यों न हो, धनुष पर कमान ही न चढ़ाई गई हो तो वाण क्या करेगा?–

मन जाता तो जान दे, तू मत जाय शरीर,
उतरी धरी कमान तो, कहा करैगो तीर ।

मार्ग यही है कि जैसे बने तैसे पाप-भावना के फैलाव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे साकार होने से रोकना चाहिये। उसके विस्तार से होने वाले निज और पर के विनाश को बरकाने की कोशिश करना चाहिये। मन भागता हो तो उसे दण्डित करना चाहिये। तन बेकाबू होता हो तो उसे पाठ पढ़ाना चाहिये। पाप से बचने का उपाय तो यही है।

यहां मुझे संन्यास की "त्रि-दण्ड व्यवस्था" का स्मरण आता है। मन-वचन-काय को अनुशासित करने के लिए इस व्यवस्था का उपदेश संतों ने किया था। उन्होंने कहा था–

मन का दण्ड है– प्राणायाम। उसका नियमित अभ्यास करना।
वचन का दण्ड है– मौन। निरंतर उसे धारण करना।
देह का दण्ड है– निष्काम-कर्म। उसकी साधना करना।

इस व्यवस्था का प्रतीक "दण्ड" तो बहुत हाथों में देखता हूं, परन्तु उसका वास्तविक अभिप्राय सधता हो यह कभी-कभार ही देखने को मिलता है।

ऐसे भी मानता है मन–

कुछ मित्र नर्मदा किनारे पिकनिक मना रहे थे। सामने पेड़ के नीचे एक बटोही कण्डों की आँच पर बाटियां सेंक रहा था। कुल तीन टिक्कड़ उसने बनाये। न घी, न दाल, न तरकारी। फिर वह उठकर

पानी लेने नर्मदा में उतर गया और कमण्डल भरकर लौट आया। परन्तु यह क्या? जतन से सेंकी हुई बाटियां उसने तोड़-तोड़ कर नर्मदा को अर्पित कर दीं। दो मुट्ठी राख पानी में घोली और पी गया। अपनी झोरी उठाई और आगे बढ़ चला।

पिकनिक-मण्डली में से किसी ने उसे रोक लिया। "बाबा, आपने यह क्या किया? बाटियां बनाई थीं तो खाई क्यों नहीं? खाना नहीं थीं तो बनाई क्यों? बात अट्पटी लगती है। समझाकर जाइये।"

यात्री ने अपनी मनोवेदना शब्दों में बाँध दी— "भैया, नर्मदा माई की परिक्रमा पर निकला हूं। भिक्षाटन से पेट भरने का संकल्प है। पर्याप्त मिल जाता है। यात्रा भी समाप्ति पर ही है। मगर यह मन तीन दिनों से रोटी की रट लगाये था। चना-चबैना से इसे तृप्ति नहीं। रोटी चाहिये। उसी का स्मरण, उसी का कीर्तन। कल तो माई के दर्शन में भी मुदित नहीं हुआ। कीर्तन में भी भटकता ही रहा। रोटी चाहिये थी इसे। आज पहली बार भिक्षा में मुंह खोलकर आटा मांगा। कहीं नमक की याचना की। कण्डे बटोरे। पत्थर पर गूंध कर बाटियां सेंकीं। फिर खाने के पहले पानी लेने गया। दोपहर की धूप में नर्मदा माई की चमकती लहरों ने आंखों को भरमा लिया। बड़ी ठण्डक मिल रही थी।"

—"मगर यह मरभुखा मन, बाटियों में रखा था। कहीं कौवा न ले जाय। कोई कुत्ता न आ जाये। एक बार तो इस पापी ने यह भी शंका कर ली कि कहीं आप लोग ही न उठा लें इसका छप्पन-भोग।"

—"परिक्रमा में जो माई का दर्शन भी न करने दे, वह मीत नहीं। वह तो मेरा बैरी हुआ। सोच लिया फिर, आज इस बैरी को मजा चखाना ही चाहिये। बाटियां खिला दीं मछलियों को और इसे पिला दी उन्हीं कण्डों की राख। अब कल एकादसी है, निर्जला रहूंगा। ऐसे ही मानेगा यह निर्लज्ज। यही है इसका इलाज।"

तो फिर यह जरूरी नहीं कि पापास्रव के सभी एक सौ आठ दरवाजे हर बार खुलें। हम सावधान हों तो उनमें से अधिकांश को तो सरलता से बंद रख सकते हैं। पाप का भार उतना हल्का तो हो ही जायेगा। उनसे मुक्ति पाने का अभ्यास इसी प्रकार तो होगा। मन के हर इशारे पर नाचना जरूरी तो नहीं। जो विकार विचार में आ गया वह क्रिया में आना ही चाहिये ऐसा क्यों? पाप तो जहर की लहर है। जहां

उसे रोका जा सके वहीं रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। जितना रोका जा सके उतना तो रोकना ही चाहिये।

सोचने से नहीं बच पाये तो करने से बचिये।

कर ही डाला है तो आगे नहीं करने का संकल्प लीजिये।

स्वयं नहीं तो दूसरों से मत कराइये। वे भी दण्डित होंगे।

पाप की अनुशंसा करके उसे प्रोत्साहित मत कीजिये। अनुमोदना से तो बचिये।

जीवन को निष्पाप बनाने के यही उपाय हैं। एक दिन में यह सब नहीं होगा। अनादि के संस्कार हैं। धीरे-धीरे जायेंगे।

इसी का नाम साधना है।

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह, ये मानव जीवन को पतन की ओर ले जाने वाले पाप हैं। पाप मुक्त होने का एक क्रम है। पहले नियम लेकर उनका आंशिक त्याग करना होगा। यह नियम ''अणुव्रत'' कहलाते हैं। बाद में साधना की ऊँचाइयों को छूने के लिये इन्हीं पापों का सर्वथा त्याग होता है जिसे ''महाव्रत'' कहते हैं। यहां अणुव्रतों की व्याख्या करेंगे।

□

पंच अणुव्रत

अहिंसा अणुव्रत

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच व्रतों में अहिंसा ही प्रमुख है। वही साध्य है, शेष चारों उसके साधक हैं। फसल की रक्षा के लिये जैसे खेत के चारों ओर बाड़ लगा देते हैं, उसी प्रकार सत्य-अचौर्य आदि सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिये ही हैं।

राग-द्वेष की पूर्ति के लिये, संकल्प करके किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाने, या उसका प्राण घात करने को हिंसा कहा गया है। इस हिंसा का स्थूल-त्याग "अहिंसा-अणुव्रत" है।

अपने कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह करने के लिए, या मौलिक अधिकारों का उपभोग करने के लिये जो आरम्भी, और उद्योगी-हिंसा करनी पड़ती है उसमें व्यक्ति की "स्वतंत्र-इच्छा" नहीं होती। वहाँ व्यक्ति की इच्छा अपनी अजीविका चलाने की है। अपने जीवन-निर्वाह की है।

इसे यों भी कह सकते हैं कि आरम्भ और उद्योग कार्यों में हिंसा व्यक्ति की मजबूरी है। वह उसका लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य की प्राप्ति में कुछ हिंसा उससे हो जाती है। इन दोनों प्रकार की हिंसा की छूट दिये बिना गृहस्थ आश्रम चल नहीं सकता।

विरोधी-हिंसा की छूट पाये बिना भी गृहस्थ सम्मान-पूर्वक अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। वह अपने आश्रित जनों के प्रति, अपने समाज और देश के प्रति, तथा धर्म और धार्मिक स्थानों एवं साधु-सन्तों आदि के प्रति अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता। इसके बिना शासन तथा न्याय की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि विरोधी-हिंसा का प्रसंग आने पर आत्मरक्षा और नीति ही उसका लक्ष्य होना चाहिये। हिंसा उसका प्रमुख लक्ष्य नहीं होगा।

अहिंसा-अणुव्रत में संकल्पी-हिंसा का सम्पूर्ण त्याग कराकर यत्नाचार पूर्वक एक सम्पूर्ण और सात्विक-जीवन जीने का परामर्श दिया गया है।

अतिचार और भावनाएं –

प्रत्येक व्रत के निर्वाह के लिये सावधानी की आवश्यकता होती है। कुछ ऐसे कार्य होते हैं जो सामान्यत: पाप नहीं दिखाई देते, परन्तु यदि वे कार्य निरन्तर होते रहें तो व्रत में दूषण भी लगता है और व्रत खण्डित होने की आशंका भी बनी रहती है। ऐसे कार्य अतिचार कहे गए हैं।

संतों ने कुछ ऐसी भावनाएं भी बताई हैं जिन्हें ध्यान में रखने पर त्याग का संकल्प दृढ़ होता जाता है। अत: साधक को अतिचारों से बचने और व्रत की समर्थक-भावनाओं का चिन्तन करने का परामर्श दिया गया है।

अच्छी फसल पाने के लिये सिर्फ बीज बो देना पर्याप्त नहीं है। उसके साथ उगने वाले घास और खर-पतवार की निराई-गुड़ाई करनी पड़ती है, और फसल को सींचना पड़ता है, तब वास्तविक लाभ होता है। इसी प्रकार साधना के लिये व्रत धारण कर लेना भर पर्याप्त नहीं है। व्रत में लगने वाले दोषों से बचने के लिये उस व्रत के अतिचारों से बचना बहुत आवश्यक है। त्याग को पुष्ट करने वाली भावनायें भी व्रत की स्थिरता में सहायक होती हैं। अत: प्रत्येक व्रत को भावना-पूर्वक, अतिचार-रहित, सावधानी से पालन करना चाहिए।

अहिंसा अणु-व्रत के पाँच अतिचार हैं, छेदन, बन्धन, पीड़न, अतिभारारोपण और आहार-वारणा।

1. दुर्भावना से कान-नाक आदि अंगों का छेद तथा नकेल और कटीली-लगाम आदि कष्ट पहुँचाने वाले प्रयोग "छेदन" हैं।
2. दुर्भावनावश किसी के वचन और शरीर की प्रवृत्तियों पर बंधन लगाना तथा रस्सी-जंजीर आदि के द्वारा किसी को बाँधकर रखना "बंधन" है।
3. डण्डा, बेंत-चाबुक आदि से घात करके शरीर को पीड़ा पहुँचाना तथा कठोर और अपमानित करने वाले शब्दों से किसी को दुख पहुँचाना "पीड़न" है।
4. दुर्भाव या लोभवश किसी पर उसकी शक्ति से अधिक भार डालना "अति भारारोपण" है। यह अतिचार बोझा ढोने तक

सीमित नहीं है। किसी पर न्याय-नीति और नियम-विरुद्ध अनुचित कर-भार, दण्ड-भार तथा कार्य-भार अति भारारोपण ही है।

5. दुर्भावनावश अपने आश्रितों के अन्न-पान का निरोध करना। उन्हें जान बूझ कर भूखा-प्यासा रखना। समय पर उनके लिये भोजन-पानी की पर्याप्त व्यवस्था नहीं करना ''आहार-वारणा'' है।

यहाँ दुर्भावना पूर्वक अन्न-पान के निरोध को अतिचार बताया गया है। भय दिखाने के लिये किसी आश्रित को भले ही कुछ कह लिया जाये, परन्तु समय पर उसे भोजन अवश्य देना चाहिये। रोग-शमन के लिये भूखा रखना, लंघन आदि कराना, तथा शान्ति के लिये उपवास आदि करना अतिचार की परिभाषा में नहीं हैं।

अहिंसा-अणुव्रत के पोषण के लिये पाँच भावनाएँ बताई गई हैं—

मन को नियंत्रित करना, उसे विषय-वासनाओं की ओर नहीं जाने देना ''मनगुप्ति'' है। वचन के द्वारा अनर्गल या निरर्थक प्रलाप नहीं करना, विसंवाद उपजानेवाली या चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाली चर्चा से बचना, ''वचनगुप्ति'' है। उठते-बैठते, तथा चलते-फिरते समय जीव-हिंसा से बचते हुए यत्नाचार-पूर्वक प्रवृत्ति करना ''ईर्या-समिति'' है। सावधानी-पूर्वक वस्तुओं का उठाना-रखना और जीव-घात को बचाकर उनका व्यवहार करना ''आदान-निक्षेपण समिति'' है। भोजन-पान बहुत पवित्रता से सोधकर, उचित समय के भीतर ग्रहण कर लेना, शुद्ध सात्विक शाकाहारी भोजन करना और रात्रि भोजन का त्याग करके दिन रहते ही भोजन कर लेना, ''आलोकित-पान-भोजन समिति'' है।

सत्य-अणुव्रत

सत्य और अहिंसा का ऐसा घनिष्ट सम्बंध है कि एक के अभाव में दूसरे की आराधना सम्भव ही नहीं है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा यथार्थ को सौन्दर्य प्रदान करती है, और यथार्थ अहिंसा को सुरक्षा देता है। अहिंसा-रहित सत्य कुरूप है, और सत्य-रहित अहिंसा क्षणस्थायी है, असुरक्षित है। इसलिये अहिंसा के आराधक को सत्य की

उपासना अनिवार्य है। गृहस्थ-जीवन में असत्य का सम्पूर्ण त्याग नहीं किया जा सकता है, अतः स्थूल-झूठ का त्याग ही सत्य-अणुव्रत का अभिप्राय है। सत्य के तीन अन्वय कहे गये हैं, हित, मित और प्रिय।

सत्य-अणुव्रत में जिस झूठ का त्याग कराया गया है, अथवा जिस सत्य के प्रयोग की अनुशंसा की गई है, वह लोक-हित और अहिंसा का साधक है। इसलिए इस व्रत की परिभाषा में हितकर होना सत्य की पहली शर्त है। उसका मित होना, संक्षिप्त होना इसलिए आवश्यक है कि इससे यह तत्काल ग्राह्य होता है। वह प्रिय भी हो ऐसा इसलिए जरूरी है कि इसके बिना उसे दूसरों तक पहुंचाना सम्भव नहीं है। अतः यह अनिवार्य है कि सत्य को हित, मित और प्रिय होना चाहिये।

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा की तरह असत्य और सत्य के भी भेद किये जा सकते हैं। वाणी को अभिप्राय से तौल कर ही उसे सच या झूठ के वर्ग में रखा जा सकता है।

एक संत किसी वृक्ष के नीचे ध्यान कर रहे थे। जब वे वहां से उठने को हुए तभी एक हिरण चौकड़ी भरता उनके सामने से निकल गया। पीछे ही दौड़ता हुआ शिकारी आ पहुंचा। उसने विपरीत दिशा की ओर हाथ उठा कर पूछा—"महात्मा जी, क्या हिरण इसी ओर गया है ?"

यद्यपि हिरण उस दिशा में नहीं गया था और जिस ओर वह गया था वह संत जानते थे, परन्तु यहां एक प्राणी के जीवन-मरण का प्रश्न था। यदि वे वास्तविकता बता देते हैं तो हिरण के मारे जाने की आशंका है। यदि वे शिकारी के अनुमान का समर्थन कर देते हैं तो शिकारी उसी दिशा में भागेगा और मृग के प्राण बचने की सम्भावना बढ़ जायेगी।

समय का सत्य और हित-प्रेरित सत्य यही था कि यहां यथार्थ को उजागर न किया जाये और शिकारी के विपरीत अनुमान को सही बताया जाये। संत ने वही किया और शिकारी उस दिशा की ओर चला गया। सत्य-अणुव्रत का यही प्रयोजन है।

सत्य-अणुव्रत के पांच **अतिचार** हैं — परिवाद, रहोभ्याख्या, पैशून्य, कूटलेख-क्रिया, और न्यासापहार।

किसी की निन्दा करना और किसी के साथ गाली-गलौज करना। वचनों के माध्यम से किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में संक्लेश अथवा अशान्ति के बीज बोना "परिवाद" है।

किसी के किसी रहस्य को उजागर करना। गोपनीयता भंग करना। देश की रक्षा, उद्योग तथा अर्थ व्यवस्था आदि की महत्वपूर्ण सूचनाएं, प्रलोलभन वश या दुर्भावना वश किसी को पहुंचा देना। यह सब ''रहोभ्याख्या'' है।

चुगली करना। दो पक्षों को परस्पर में लड़वाने के लिये उनकी बातें बढ़ा-चढ़ा कर दूसरे पक्ष तक पहुंचाना। किसी के पीठ पीछे उसकी बुराई करना ''पैशून्य'' है।

नकली दस्तावेज तैयार करके किसी की धोखा देना, या ठगने का प्रयास करना। किसी के जाली हस्ताक्षर बनाना। किसी की लिखावट में दुर्भावना पूर्वक मिलावट या काट-छांट करना। प्राचीन ग्रन्थों से ऐसे पद-वाक्य निकाल देना या जोड़ देना जिनसे उनका वास्तविक अभिप्राय दूषित होता हो। समाज में भ्रान्ति या अशान्ति फैलाने वाली कल्पित घटनाओं या मन-गढ़ंत समाचारों का प्रचार-प्रसार करना। प्रतिहिंसा की भावना भड़काने वाली अफवाहें फैलाना। झूठी गवाही देना। अपनी बात से मुकर जाना आदि सभी ''कूटलेख-क्रिया'' है।

किसी की धरोहर हड़प लेना, अमानत में खयानत करना। श्रमिकों को नियमानुकूल भुगतान नहीं करना। भागीदारी में खोटी नियत करना, या ट्रस्टीशिप के नियमों का उल्लंघन करना **''न्यासापहार''** है।

सत्य-अणुव्रत के निर्दोष पालन के लिये तथा व्रत में उत्तरोत्तर निर्मलता लाने के लिये इन पांच अतिचारों से बचना चाहिये।

असत्य का प्रयोग क्रोध-लोभ-भय और हास्य के निमित्त से ही प्रायः किया जाता है। इसलिए क्रोध और लोभ को नियंत्रित करना, भय का त्याग कर आत्म विश्वास पूर्वक, निर्भीक जीवन बिताना और भोंडे-अश्लील हास्य से बचना, यही सत्य-अणुव्रत की पांच भावनायें हैं।

अचौर्य-अणुव्रत

चोरी भी हिंसा का ही एक रूप है। जब किसी की कोई वस्तु चोरी चली जाती है, या कोई कहीं ठगाया जाता है, तब उसके परिणाम संक्लेशित होते हैं। उसे मानसिक पीड़ा होती है और भौतिक कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। अतः जब तक चोरी का त्याग न हो तब तक अहिंसा का

पालन नहीं हो सकता। चोरी छोड़े बिना सत्य के निर्वाह की भी कोई सम्भावना नहीं है।

जिस पर अपना अधिकार नहीं है ऐसी किसी भी वस्तु को बिना अनुमति प्राप्त करना, या प्राप्त करने की चेष्टा करना, चोरी है। दूसरे को ठगना और छल-कपट के द्वारा दूसरे का द्रव्य अपनी जेब में डालने के सारे अनैतिक काम चोरी ही हैं। चोरी का स्थूल-त्याग तीसरा "अचौर्य-अणुव्रत" है।

अचौर्य-अणुव्रत के पांच अतिचार हैं—चौर-प्रयोग, चौरार्थ-आदान, विलोप, प्रतिरूपक-व्यवहार और हीनाधिक-विनिमान।

1. तरह-तरह के उपाय बताकर चोरी की प्रवृत्ति में सहायक होना। स्वयं चोरी की योजना बनाना और दूसरों के द्वारा चोरी का प्रयास कराना। चोरी की प्रशंसा-अनुमोदना करना "चौर-प्रयोग" हैं।
2. जानबूझकर चोरी का माल खरीदना, गिरवी रखना या छिपाना। चोरी के साधन किसी को उपलब्ध कराना या उनका व्यापार करना। चोरों-डाकुओं के साथ आर्थिक सम्बंध रखना, उन्हें संरक्षण देना और सूचनाएं आदि देकर लूट-पाट में सहायक होना "चौरार्थ-आदान" है।
3. किसी की स्थावर या जंगम, चेतन या अचेतन सम्पत्ति छीन लेना या नष्ट कर देना। भूमि या भवन पर अवैध कब्जा कर लेना। सार्वजनिक अथवा शासकीय भूमि, वन-उपवन-तालाब आदि पर अतिक्रमण करके अधिकार जमा लेना। कहीं आग लगाकर, कहीं बम फोड़कर और कहीं तेजाब छिड़क कर दूसरे को हानि पहुंचाना। घूस लेना या घूसखोरी को बढ़ावा देना। ये सारी क्रियाएं "विलोप" हैं।
4. दूसरों को ठगने या अनुचित लाभ कमाने के अभिप्राय से मूल्यवान वस्तुओं में सस्ते पदार्थों की मिलावट करना। नकली वस्तुओं को असली बताना। नकली दवाओं, या जिनकी अवधि समाप्त हो चुकी है ऐसी दवाओं का व्यापार करना। अशुद्ध को शुद्ध तथा अपवित्र को पवित्र बताकर बेचना आदि क्रियायें "प्रतिरूपक-व्यवहार" हैं।
5. गैलन-लिटर आदि माप है और किलो-तोला-ग्राम आदि तौल है।

माप-तौल के साधन बाट आदि कमती-बढ़ती रखकर व्यापार में अधिक लेने और कम देने की नीयत रखना। यात्रा में निषिद्ध सामान लेकर चलना अथवा बिना टिकिट या अपर्याप्त टिकिट पर यात्रा करना। किसी प्रकार की कर-चोरी और हिसाब की हेरा-फेरी आदि सब प्रतिरूपक-विनिमान नाम का पांचवां अतिचार है।

इस व्रत में दृढ़ता लाने के लिये नीति-पूर्वक कमाये गये द्रव्य से अपनी आय के भीतर ही आजीविका चलाने का संकल्प आवश्यक है। जहां आय से अधिक व्यय करने की आदत होगी वहां नियम से नीति-विरुद्ध कमाई घर में आएगी। ऐसे अपवित्र धन के उपयोग से परिवार में व्यसन, कलह और अशान्ति उत्पन्न होगी। जीवन इतना आकुलता-ग्रस्त हो जायेगा कि किसी नियम-व्रत आदि के लिये कहीं अवकाश ही नहीं होगा।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत

वासना का शमन करने का वास्तविक उपाय तो ब्रह्मचर्य ही है। भोगों के माध्यम से वासना की क्षणिक-तृप्ति हो जाती है परन्तु उसका अभाव नहीं होता। वह दूने वेग से पुनः पुनः उभरती है।

प्रारम्भिक दशा में साधक में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह ब्रह्मचर्य-महाव्रत का पालन कर सके, अतः उसके लिये "स्वदार-संतोषव्रत" बताया गया है। दम्पति एक दूसरे में संतुष्ट और प्रसन्न रहें, दाम्पत्य की मर्यादा के बाहर आकर्षण का अनुभव न करें, गृहस्थों के लिए यही "ब्रह्मचर्य-अणुव्रत" है।

स्वदार-संतोष व्रत गृहस्थों का धर्म है। यह गार्हस्थिक सुख-शान्ति का रहस्य है। पुरुष के लिए एक ही पत्नी और स्त्री के लिये एक ही पति की मर्यादा हर प्रकार से उचित, न्याय-संगत और निरापद सिद्ध हुई है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत की धारणाओं के विपरीत, गृहस्थी में जहां दो के बीच किसी तीसरे को लेकर कोई त्रिकोण बनता है, वहीं दाम्पत्य की सारी गरिमा खण्डित हो जाती है। विश्वास टूट जाते हैं और तनाव बढ़

जाते हैं। अशान्ति का वातावरण पूरे परिवार को प्रदूषित कर देता है। जीवन का एक पल भी सहज नहीं रह जाता। घर में "आठ पहर का जूझना, बिन खांडे संग्राम" छिड़ा रहता है। तब शरीर भले ही एक छत के नीचे बने रहें, परन्तु मन अलग-अलग दिशाओं में चल निकलते हैं। जिस गृहस्थी को प्यार की तुष्टि से महकना चाहिये था, वह असंतोष की आंच में दहकने लगती है। एक मित्र ने इस दुर्भाग्यपूर्ण बिडम्बना को इन शब्दों में कहा था—

यह विसंगति जिन्दगी के द्वार सौ सौ बार रोई,
बांह में है और कोई, चाह में है और कोई।

दूसरे भी भोगते हैं इसकी पीड़ा

सबसे अधिक अप्रिय तथ्य यह है कि जहां हिंसा-झूठ चोरी और परिग्रह जैसे पाप व्यक्ति के स्वयं के जीवन को कलंकित या दूषित करते हैं, वहां व्यभिचार का पाप पूरे परिवार को कुण्ठाओं और पीड़ाओं के गर्त में ढकेल देता है। खण्डित-दाम्पत्य के बीच सुकुमार-मति निर्दोष संतान की जो दुर्दशा होती है; उसके उदाहरण हम सबने कहीं न कहीं देखे हैं। उन बेगुनाह बच्चों को अपने ही माता-पिता की नादानी का जो दुखद परिणाम भोगना पड़ता है उसे देखकर, कौन है जो संवेदना से द्रवित नहीं हो उठेगा ? दरकते हुए दाम्पत्य में दोनों के परिवारजन, मां-बाप, और भाई-बहिन जिस मानसिक वेदना की अनुभूति करते हैं, उसकी कल्पना भी दुखद है। अपनी सुख-शान्ति का विनाश करने के साथ-साथ इतने लोगों को, इतनी पीड़ा पहुंचाना क्या हिंसा नहीं है ?

शायद इसलिये संयत आचार-विचार की परिभाषा करते हुए प्रायः सभी विचारकों ने निष्ठापूर्ण दाम्पत्य पर विशेष जोर दिया है। ब्रह्मचर्य-अणुव्रत को अहिंसा का साधक माना है। यदि जीवन में यह संकल्प साकार नहीं हो तो पाप-त्याग के अन्य सकंल्प निभ सकेंगे इसमें बहुत संदेह है।

इस व्रत को दूषित करने वाले पांच अतिचार कहे गये हैं—अन्यविवाह आकरण, अनंग-क्रीड़ा, विटत्व, तीव्र कामाभिनिवेश और इत्वरिकागमन।

1. दूसरों के विवाह कराने का व्यवसाय करना। दिन-रात उसी

चिन्तन में सलंग्न रहना, तथा एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह करना "अन्यविवाह-आकरण" है।

2. वासना-प्रधान चित्र, चलचित्र आदि देखना तथा अप्राकृतिक, विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना "अनंग-क्रीड़ा" है।

3. काम-संबंधी निम्न-स्तर के मनोरंजन में रुचि लेना। शरीर और वाणी से भांडपने की कुचेष्टायें करना। उत्तेजक और अश्लील साहित्य तथा कैसेट आदि का उपयोग करना, उसे रखना, उसका व्यापार करना और अन्य प्रकार से उसके प्रचार में सहायक होना "विटत्व" है।

4. काम की तीव्र लालसा रखना। निरंतर उसी के चिन्तन में लगे रहना। कामोत्तेजक निमित्तों की संयोजना करना "तीव्र-कामाभिनिवेश" है।

5. चरित्र-हीन स्त्री-पुरुषों की संगति में रहना। पत्नी का चरित्र आदि दूषित हो गया हो, तथा पति यदि व्यभिचारी हो गया हो तब भी उसके साथ दाम्पत्य-सम्बंध बनाये रखना "इत्वरिका-गमन" है।

साधक को विशेष आसक्ति छोड़कर, चित्त के विकार को शमन करने के अभिप्राय से, आहार सेवन के समान ही, मर्यादित काम सेवन करना चाहिये। जैसे किसी भी परिस्थिति में एक सीमा से अधिक भोजन उदरस्थ नहीं किया जा सकता, ऐसा ही विवेक उसे वासना के सम्बन्ध में रखना चाहिये। तीव्र अभिनिवेश के कारण शरीर की शक्ति क्षीण होती है, उसमें रोग उत्पन्न होते हैं और संकल्प की दृढ़ता खण्डित होती है। इससे मन की एकाग्रता भी प्रभावित होती है।

ब्रह्मचर्य-अणुव्रत के संकल्प को पुष्ट करने के लिये कुछ भावनाएं हैं–

– काम विकार उत्पन्न करने वाला अश्लील साहित्य नहीं पढ़ना।
– इस विषय की चर्चा-वार्ता का त्याग करना।
– महिलाओं की ओर विकारी दृष्टि से नहीं देखना।
– पूर्वकाल में भोगे हुए भोग-विलास का स्मरण नहीं करना।
– इन्द्रिय-लालसा उपजाने वाले कामोद्दीपक पदार्थों का सेवन नहीं करना।

— शरीर का विलासिता पूर्ण श्रृंगार नहीं करना।
— अंग-प्रदर्शन करने वाले वस्त्र-आभूषण नहीं पहनना।

परिग्रह परिमाण-अणुव्रत

परिग्रह की तृष्णा को अपने लिये अहितकर समझकर अंतरंग और बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रहों से ममत्व-भाव हटाना, परिग्रह का भार कम करने के उपाय करना और अपनी आवश्यकता के अनुरूप उनकी सीमा निर्धारित करके, उससे अधिक संग्रह का त्याग कर देना, यही "परिग्रह **परिमाण** -अणुव्रत" की परिभाषा है। यह अपनी अंतहीन इच्छाओं को सीमित करने का कौशल है अतः इसका दूसरा नाम "इच्छा-परिमाण व्रत" भी है।

परिग्रह के प्रकार

परिग्रह चौबीस प्रकार का कहा गया है। चौदह अंतरंग और दस बाह्य। मिथ्यात्व या अविद्या, क्रोध-मान-माया और लोभ, हास्य-रति-अरति-भय-जुगुप्सा और शोक, तथा स्त्री-पुरुष और नपुंसक वेद संबंधी वासना, यह चौदह प्रकार का अंतरंग परिग्रह है। दूसरे शब्दों में ऐसा कह सकते हैं कि चेतना में उठने वाली विकार की सभी तरंगें अंतरग परिग्रह हैं। कामनाओं का ही दूसरा नाम है अंतरंग परिग्रह।

बाह्य परिग्रह के दस भेद हैं—क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, शयनासन-यान, कुप्य और भाण्ड।

इन सब अंतरंग और बहिरंग परिग्रहों में, अपनी शक्ति, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार सीमा बांध कर उनके बाहर जो अनन्त पदार्थ हैं उन सबका मन-वचन और काय से त्याग कर देना "परिग्रह परिमाण-अणुव्रत" है।

परिग्रह-परिमाण व्रत का दूसरा नाम "इच्छा-परिमाण व्रत" है। इच्छाओं का विस्तार असीम है। यदि उन्हें सीमित न किया जाये तो इच्छाएं मानव को दानव के समान भयावह और विवेकहीन बना देती हैं।

मनुष्य जब अपनी इच्छाओं के अधीन हो जाता है तब वह चाहता है कि सबसे अधिक सुख-सुविधाएं और साधन उसी के पास हों। सारा वैभव, यश और खुशियां उसे ही मिलती रहें। मजे की बात यह है कि जैसे-जैसे इच्छाओं की पूर्ति होती है, वैसे ही वैसे उनका दायरा बढ़ता जाता है। तृष्णा की यही विशेषता है कि वह कभी समाप्त नहीं होती। वह ऐसी आग है जो बुझना जानती ही नहीं।

आज समाज में जो शोषण-वृत्ति, अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, दुख-दारिद्रय, लूट-मार और शोक-संताप ऊपर से नीचे तक व्याप रहे हैं, उनका प्रमुख कारण परिग्रह-वृत्ति, जमाखोरी, मुनाफाखोरी या संग्रह की भावना ही है। परिग्रह-वृत्ति हिंसा का मूल कारण है। इससे बचना या इस पर नियंत्रण रखना ही हितकर है, इसीलिये गृहस्थ श्रावक को इच्छा-परिमाण व्रत का परामर्श दिया गया है।

भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा की तरह परिग्रह में भी ये भेद करना चाहिए। पदार्थों के साथ मन में लगाव रखना, उनके व्यामोह की मूर्च्छा में खो जाना "भाव-परिग्रह" है। मनचाही वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त कर लेना, उन पर काबिज हो जाना "द्रव्य परिग्रह" या भौतिक परिग्रह है।

भौतिक परिग्रह मेरा बना रहे और भीतर से उसकी लोलुपता छूट जाये ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिये बाह्य परिग्रह का त्याग साधक के लिये अनिवार्य है। अंतरंग में जितना ममत्व-भाव हो इतने पदार्थ मिल ही जाये, ऐसा नियम तो नहीं है, परन्तु बाहर जितना हमने जोड़कर, संजोकर रखा है, जिसकी रक्षा के लिये हम दिन-रात चिन्तित हैं, नियम से उसकी ममता हमारे भीतर होगी। धान का ऊपरी मोटा छिलका चढ़ा रहे और भीतर का महीन लाल छिलका उतर जाये यह कैसे सम्भव है ?

परिग्रह परिमाण-अणुव्रत में विक्षेप उत्पन्न करने वाले पांच अतिचार हैं—अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ, और अति-भारवाहन। इनकी व्याख्या इस प्रकार होगी—

1. अधिक लाभ की आकांक्षा में शक्ति से अधिक दौड़-धूप करना। दिन-रात उसी आकुलता में उलझे रहना और दूसरों से भी नियम-विरुद्ध अधिक काम लेना "अतिवाहन" है।

2. अधिक लाभ की इच्छा से उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक समय तक संग्रह करके रखना। यानी अधिक मुनाफाखोरी या जमाखोरी की भावना रखकर संग्रह करना "अतिसंग्रह" है।
3. अपने अधिक लाभ को देखकर अहंकार में डूब जाना और दूसरों के अधिक लाभ में विषाद करना, जलना-कुढ़ना और हाय-हाय करना "अतिविस्मय" है। अपनी निर्धारित सीमा को भूल जाना या बढ़ाने की भावना करना भी उसमें शामिल है।
4. मनचाहा लाभ होते हुए भी और अधिक लाभ की आकांक्षा करना। क्रय-विक्रय हो जाने के बाद भाव घट-बढ़ जाने से, अधिक लाभ की सम्भावना हो जाने पर उसे अपना घाटा मानकर संक्लेश करना "अतिलोभ" है।
5. लोभ के वश होकर किसी पर न्याय-नीति से अधिक भार डालना, तथा सामनेवाले की सामर्थ्य के बाहर अपना हिस्सा, मुनाफा, ब्याज आदि वसूल करना "अति भारवाहन" है।

पांच इन्द्रियों के माध्यम से स्पर्श, रस, रूप गन्ध और शब्द-स्वर आदि का ज्ञान होता है। इसी माध्यम से वस्तुओं के संग्रह की भावना बढ़ती जाती है, अतः पांच इन्द्रियों के विषयों पर नित्य नियंत्रण की भावना रखना **परिग्रह-परिमाण** व्रत की भावना है।

पाप दुख रूप हैं : दुख के बीज भी हैं

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह ये पांच पाप दुख रूप हैं। जिसके साथ हिंसा आदि का व्यवहार किया जाता है वह तो दुखी होता ही है, परन्तु इन्हें करते समय पाप करने वाले को भी कई प्रकार के दुख झेलने पड़ते हैं। पाप करते समय मनुष्य को आकुलता, भय, शंका और तृष्णा आदि न जाने कितने प्रकार की मानसिक पीड़ाएं सहनी पड़ती हैं, अतः पाप दुख रूप हैं। आगामी काल में इन पापों का दुष्फल भोगना पड़ेगा तब भी तरह-तरह के दुख जीव को उठाने पड़ेंगे, अतः पाप दुख के बीज भी हैं।

बध-बंधन और पीड़न जिस प्रकार मुझे अप्रिय हैं, इसी प्रकार वे दूसरे प्राणियों को भी अप्रिय और कष्टकर होंगे।

किसी के कठोर और कटु-वचन सुनकर या झूठी बातों से जैसे मुझे दुख होता है, वैसे ही दूसरों को भी दुख होता होगा।

मेरी किसी वस्तु की चोरी हो जाने पर, या ठगे जाने पर मुझे जैसी पीड़ा होती है, वैसे ही दूसरे लोग भी वस्तु के वियोग में पीड़ित होते होंगे।

मेरे परिवार की स्त्रियों का जरा सा भी तिरस्कार हो जाये तब मुझे जैसा मानसिक कष्ट होता है, वैसा ही अपनी माता-बहिन-पत्नी या पुत्री को लेकर दूसरों को भी होता होगा।

परिग्रह-प्राप्ति में बाधा आ जाने पर, या प्राप्त परिग्रह के नष्ट हो जाने पर जैसे मुझे वांछा और शोक आदि का दुख उठाना पड़ता है, वैसा ही सभी को होता होगा।

बार-बार ऐसा चिन्तवन करने से यह आस्था बनेगी कि हिंसादिक पाप केवल दूसरों के लिये ही दुखद नहीं हैं, वे मेरे लिये भी वर्तमान में दुख-रूप हैं तथा भविष्य के लिये दुख के बीज हैं। आज बोते समय भले ही क्षणिक सुख का आभास इनमें होता हो, परन्तु कालान्तर में जब मुझे वह फसल काटनी पड़ेगी, तब यातनाओं, पीड़ाओं और संक्लेशों के चक्र-व्यूह में मेरी आत्मा अकेली ही होगी। उस समय मेरा कोई सहाई नहीं होगा।

नहीं, अब मुझे यह कटीली फसल बोनी ही नहीं है। अपने कुरुक्षेत्र को सुलगने नहीं देना है। पांच ग्राम देकर यह संघर्ष टलता हो तो यह अवसर खोना नहीं है।

क्या सचमुच परिग्रह पाप है

शास्त्रों में पग-पग पर परिग्रह को पाप बताया गया है। जिसने भी आत्म-कल्याण का संकल्प लिया उसने सबसे पहले परिग्रह का ही त्याग किया है। प्रायः सभी धर्मग्रन्थों में परिग्रह की निन्दा की गई है। परन्तु बात कुछ समझ में आती नहीं। सारी सुख-सुविधाएं उपलब्ध कराने की सामर्थ्य रखने वाली सम्पदा पाप कैसे हो सकती है ? कुछ लोग उसे पुण्य का फल भी तो कहते हैं ? पुण्य का फल और "पाप", यह कैसे हो सकता है ?

ऐसे अनेक प्रश्न परिग्रह को लेकर मन में उठते हैं। यदि परिग्रह पाप है तो उसका जहरीलापन समझा जाना चाहिये। उसे सही परिप्रेक्ष्य में पहचाना जाना चाहिये। इसलिये परिग्रह पर कुछ और विचार करेंगे।

अपरिग्रह

एक व्यक्ति मकान बनवाना चाहता था। उसने वास्तुकार से अपने मन का नक्शा तैयार करवाया। नक्शा सचमुच बहुत अच्छा बना था। उसके साथ निर्माण के लिये तकनीकी परामर्श (वर्किंग डिजाइन्स) भी साथ में दी गई थीं। इस सब के लिये धन्यवाद देते हुए वास्तुकार से प्रश्न किया गया – ''कभी-कभी नये मकान में भी पानी टपकने लगता है। आप इतनी कृपा और करें कि इस नक्शे में उन स्थलों पर निशान लगा दें जहां पानी टपकने की हालत में मरम्मत करानी चाहिए।

प्रश्न सुनकर वास्तुकार चकित था। अपने व्यावसायिक जीवन में पहली बार ऐसे प्रश्न से उसका सामना हुआ था। उसने कहा – ''बन्धु ! यदि मेरी डिजाइन के अनुसार निर्माण होगा तो मकान में पानी टपकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। परन्तु, यदि किसी कारण से, कभी, छत टपकने ही लगे तो उस समय कहां मरम्मत करानी होगी, यह आज नक्शे में कैसे रेखांकित किया जा सकता है ? जब पानी टपके तभी आप देख लें कि पानी कहां से टपकता है, बस वहीं मरम्मत करानी होगी।

भगवान महावीर ने हमें अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिये भी एक ऐसा नक्शा दिया था जिससे एक छिद्र-रहित भवन हम बना सकते थे। उन्होंने जीवन-निर्माण के लिए कुछ ऐसे तकनीकी परामर्श दिये थे जिन पर यदि अमल किया जाता तो एक निष्पाप और निष्कलंक व्यक्तित्व हमारा बन सकता था। हमारे जीवन में पाप का प्रवेश हो ही नहीं सकता था।

परन्तु हम चूक गये। अपने व्यक्तित्व का प्रासाद खड़ा करते समय हमने महावीर के निर्देशों का पालन नहीं किया। इसी का फल है कि हमारे जीवन में पांच पापों का प्रवेश हो रहा है। यदि हमारा जीवन उनकी बताई हुई पद्धति पर गढ़ा जाता तो उसमें पाप के रिसाव का कोई प्रश्न ही नहीं था।

अब हमारे सामने समस्या यही है कि अपने सछिद्र व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाने के लिये हम क्या उपचार करें ? हमारे जीवन में जगह-जगह पाप का मलिन जल टपक रहा है, किस तरफ से उस चुअन को रोकने का प्रयास करें ?

पाप-प्रवृत्तियों से बचने के लिये महावीर का यही परामर्श है कि निरन्तर आत्म-अवलोकन हम करते रहें और जिस आचरण के माध्यम से हमारे जीवन में पाप का प्रवेश होता दिखे, उस आचरण को पूरी सतर्कता के साथ अनुशासित करने का प्रयत्न करें।

पाप की जड़ : लिप्सा

आज हमारे जीवन में परिग्रह ही शेष चार पापों के द्वार खोल रहा है। आज वही कैन्सर की व्याधि बनकर हमारे मन-मस्तिष्क पर छाया हुआ है। जीवन में प्रवेश करती हुई पाप की धारा को रोकने के लिये, हमें पहले अपनी परिग्रह-लिप्सा पर अंकुश लगाना होगा, तभी उस दिशा में आगे बढ़ा जा सकेगा।

हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील से हम सब घृणा करते हैं, परन्तु परिग्रह से कोई घृणा नहीं करता। उल्टे उसके सान्निध्य में हम अपने आप को सुखी और भाग्यवान समझने लगे हैं। यह परिग्रह-प्रियता हमें भीतर तक जकड़ रही है। यह हित-अहित का विवेक भी हमसे छीन रही है। आज परिग्रह के पीछे मनुष्य ऐसा दीवाना हो रहा है कि उसके अर्जन और संरक्षण के लिये वह, करणीय और अकरणीय, सब कुछ करने को तैयार है।

हम अनजाने में भी हिंसक नहीं होना चाहते, परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितनी भी हिंसा करनी पड़े, हम करते जा रहे हैं।

हम स्वप्न में भी झूठ और चोरी में अपनी प्रतिष्ठा नहीं मानते। उनके बिना अपने आप को दुखी भी नहीं मानते। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितना झूठ बोलना पड़े, हम बोलते हैं। जिस-जिस प्रकार की चोरी करना पड़े, हम करने को तैयार बैठे हैं।

आज हमारी जीवन पद्धति में व्यभिचार और कुशील निन्दनीय माने जाते हैं। कोई कुशील को अपने जीवन में समाविष्ट नहीं करना चाहता। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितना कुशील-मय व्यवहार करना पड़े, हममें से प्रायः सब, उसे करने के लिए तैयार बैठे हैं।

परिग्रह को लेकर कहीं अनुज अग्रज के सामने आंखें तरेर कर खड़ा है। उसकी अवमानना और अपमान कर रहा है। कहीं अग्रज

अपने अनुज को कोर्ट-कचहरी तक घसीट रहा है। परिग्रह को लेकर ऐसे तनाव प्रगट हो रहे हैं कि बहिन की राखी भाई की कलाई तक नहीं पहुंच पा रही। परिग्रह के पीछे पति-पत्नी के बीच अनबन हो रही है और मित्रों में मन-मुटाव पैदा हो रहे हैं।

ये होने के पहले ही टूटते हुए रिश्ते, ये चरमराते हुए दाम्पत्य, परित्यक्ता पत्नियों की ये सुलगती हुई समस्याएं, और दहेज की वेदी पर झुलसती-जलती ये कोमल-कलियां, हिंसा-झूठ और चोरी का परिणाम नहीं हैं। ये सारी घटनाएं व्यभिचार के कारण भी नहीं घट रहीं। मानवता के मुख पर कालिख पोतने वाले, और समाज में सड़ांध पैदा करने वाले ये सारे दुष्कृत्य, हमारी परिग्रह-लिप्सा का ही कुफल हैं। गहराई में जाकर देखें तो इनमें से अधिकांश घटनाओं के पीछे हमारा लोभ, हमारी लालच, और भौतिकता के लिये हमारी अतृप्त-आकांक्षाएं ही खड़ी दिखाई देंगीं।

जैन आचार-संहिता में परिग्रह की लोलुपता को सभी पापों की जड़ बताते हुए कहा गया – ''मनुष्य परिग्रह के लिए ही हिंसा करता है। संग्रह के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में परिग्रह की लिप्सा के माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह-लिप्सा आज का सबसे बड़ा पाप है। उसी के माध्यम से शेष चार पाप हमारे जीवन में प्रवेश पा रहे हैं। लिप्सा ही वह छिद्र है जिसमें से होकर हमारे व्यक्तित्व के प्रासाद में पाप का रिसाव हो रहा है–

संग णिमित्तं मारइ, भणई अलीकं, करेज्ज चोरिक्कं,
सेवइ मेहुण-मिच्छं, अपरिमाणो कुणदि जीवो।

–समणसुत्तं

बलिहारी है बुद्धि की

एक संत ने तृष्णावान पुरुषों पर व्यंग्य करते हुए कहा है – ''आपकी परिग्रह-प्रियता अनोखी है। जैसे-जैसे काल बीत रहा है, वैसे ही वैसे पुरुषार्थ के द्वारा आपकी धन-वृद्धि हो रही है, जो आपको अत्यन्त प्रिय है। परन्तु इस तृष्णा में आप यह भी भूल जाते हैं कि जिस गति से काल व्यतीत होता है, उसी गति से आपकी आयु भी क्षीण हो रही है।''

—"इसके बाद भी आप अपनी प्रतिक्षण खिरती हुई आयु का कोई सार्थक उपयोग नहीं करना चाहते। यह जानते हुए भी धन की ही आकांक्षा में लगे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि आप अपने जीवन से अधिक, अपनी धन-सम्पदा को चाहते हैं। आपकी बुद्धि विलक्षण है।"

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष, हेतुं कालस्य निर्गमम्।
वांचछतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम्।।

—आचार्य पूज्यपाद/इष्टोपदेश/15

यह कैसा गणित है हमारा ?

वास्तव में हमारे आर्थिक चिन्तन में कहीं न कहीं कोई भूल अवश्य हो रही है। लगता है कि हम अपने जीवन-मूल्य उसके साथ जोड़ नहीं पा रहे हैं। उदाहरण के लिए कोई एक मकान बन रहा है। उसके लिये हमारे पास पूरा तखमीना तैयार है। भूमि के मूल्य से लगाकर ईंट, सीमेंट, और वह सब कुछ, जो भवन के निर्माण में लगने वाला है, उस सब की कीमत जोड़कर हमने पूरे मकान की लागत का अनुमान कर लिया है। परन्तु उसे बनवाते समय हमारे जीवन के जो अनमोल वर्ष व्यय होने वाले हैं, उसका कोई अनुमानित मूल्य हमारी लागत में शामिल नहीं है।

मकान बनते समय जितनी देर में एक ईंट रखी जाती है, उतनी देर में हमारी एक सांस भी निकल जाती है। इस सांस का मूल्य किस खाते में जोड़ा गया है ? कभी विचार करें कि आखिर श्वांसों की भी तो एक निश्चित सीमा है। भवन की आखिरी ईंट के साथ निकलने वाली सांस ही यदि हमारे जीवन की आखिरी सांस हो तो उस मकान की लागत क्या होगी ?

संसार में अपना गुजारा करने के लिये परिग्रह जोड़ना और उसका संरक्षण करना आवश्यक है। परन्तु उसके जाल में उलझ कर, संग्रह को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेना, कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इच्छाओं की सीमा निर्धारित करके, आकांक्षाओं की असीमता पर अंकुश लगाकर, हम सम्पत्ति के साथ साता, सुख और संतोष का भी अर्जन कर सकते हैं। वही हमें करना चाहिए।

सुख का मूल : संतोष

कहा जाता है कि पहले कभी सब के आंगन में कल्प-वृक्ष हुआ करते थे। जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएं, याचना करने पर उन कल्प-वृक्षों से प्राप्त हो जाती थीं। शायद वह तब की बात होगी जब मनुष्य को संग्रह का रोग नहीं था। उसकी आवश्यकताएं सीमित थीं और वह अपने वर्तमान में जीना जानता था। समाज में छीना-झपटी और संचय की होड़ नहीं थी।

आज परिस्थितियां कुछ अलग प्रकार की हैं। सादगी का सौन्दर्य और संतोष की सुगन्ध हमारे जीवन में कहीं दिखाई नहीं देती। व्यय का आय के साथ कोई संतुलन नहीं है। हमारी असीम-आकांक्षाएं से डर कर ही शायद कल्प-वृक्ष कहीं छिप गये हैं। वे लुप्त नहीं हुए। आज भी यदि संचय की तृषा न हो, और आकांक्षाएं सीमित हों, तो हर आंगन में कल्प-वृक्ष उगाये जा सकते हैं।

यही बात कबीरदास ने अपने शब्दों में कही – "गाय-बैल, हाथी-घोड़े और मणि-माणिक्य, ये सब धन होंगे परन्तु एक इनसे भी बड़ा धन है। वह "संतोष-धन" जब उपलब्ध होता है तो ये सारे धन महत्वहीन हो जाते हैं"–

गो धन, गज धन, बाज़ि-धन, और रतन धन खान,
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।

हमने धन-सम्पत्ति के साथ अपने सुख-दुख जोड़ रखे हैं। वास्तव में यह धारणा मिथ्या है। विचार कर देखें तो सुख और दुख धन-सम्पत्ति में नहीं, उसके साथ हमारी समझ में निहित हैं। जिस पदार्थ या जिस जीव के साथ हमारा जैसा रागात्मक सम्बन्ध है, उसे लेकर वैसे ही सुख-दुख हमें व्यापते हैं। सम्पत्ति से हमने जो अपेक्षायें कर रखी हैं उन्हीं के अनुसार हमारे सुख-दुख के प्रतिमान बदलते रहते हैं।

कोई व्यक्ति एक मकान पाकर सुख मानता है। दुर्घटनावश यदि मकान जल जाये तो उसका दुखी होना भी समझ में आता है। परन्तु परिग्रह के समीकरण इस गणित को भी पलट देते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि मकान से मालिक को आकुलताएं मिलती हैं और मकान जल जाये तो वह सुखी हो जाता है।

एक व्यक्ति का किसी शहर में एक मकान था। पुराना मकान और उसमें पुराने किरायेदार। भाड़ा बढ़ाने की बात कौन कहे, पिछला भी वसूल नहीं होता था। नगरपालिक निगम के कर अपने पास से भरने पड़ते थे। मकान बेचने की बात चलाते, परन्तु लाख-दो लाख का भी खरीददार नहीं मिलता था क्योंकि मकान पर कब्जा मिलना बहुत कठिन था।

एक दिन किसी मित्र ने फोन पर खबर दी कि आपका मकान जल गया। जहां तीन मंजिला खड़ा था, वहां अब सिर्फ एक राख का ढेर है।

खबर सुनते ही घर में मातम छा गया। उस दिन चूल्हा भी नहीं जला। जैसा भी था, इतने बड़े शहर में अपना एक मकान तो था। पाप के उदय से आज वह चला गया। गांव भर के लोग समझाने और धीरज बंधाने चले आ रहे थे। बिल्कुल ऐसा माहौल था जैसे परिवार में किसी की मृत्यु हो गई हो। रोना-धोना समझाना सब वैसा ही।

शाम की गाड़ी से दलाल ने आकर कहा—"एक ग्राहक मिला है। पांच लाख में लेने को तैयार है। सौदा स्वीकार करें तो एक लाख बयाना मैं अपने साथ लाया हूं।"

गृहपति ने ठण्डी सांस लेते हुए कहा—"क्यों जले पर नमक छिड़कते हो भाई, जिस मकान के बेचने की बात थी वह तो अब रहा ही नहीं। कल उसमें आग लग गई। अब तो वहां सिर्फ राख का ढेर है।"

दलाल ने हंसते हुए कहा—"वह सब मुझे मालूम है। आग लगने के बाद ही वहां से चला हूं। पहले कब्जा मिलने में बहुत कठिनाइयां थीं, इसलिए कोई खरीदना नहीं चाहता था। अब सारी कठिनाइयां दूर हो गईं। जमीन एकदम खाली पड़ी है। आज कब्जा लेकर कल से वहां नया निर्माण आरम्भ कराया जा सकता है। इसीलिए कई ग्राहक सामने आ गये हैं।"

"आप तो दो लाख में देने को तैयार थे। मैं पांच लाख का बयाना लेकर आया हूं। परन्तु मेरी राय है कि आप बेचने में जल्दबाजी न करें। यदि दस दिन भी ठहर जायें तो सात-आठ लाख का ग्राहक मैं तलाश कर लाऊंगा।"

दलाल की बात सुनते ही घर का माहौल बदल गया। रुदन की जगह हर्ष और उल्लास लहराने लगा। बुझा हुआ चूल्हा जल उठा। जो

मातम-पुरसी के लिये आ रहे थे उनके चाय-नाश्ते की व्यवस्था होने लगी। सब के मुख पर मुस्कान खिलने लगी।

यह हमारे मन का एक चित्र है। हर कोई प्रायः जमीन और मकान का मालिक बनकर प्रसन्न होता है। यदि उस सम्पत्ति को जरा भी क्षति पहुंचे तो स्वामी का दुखी होना एकदम स्वाभाविक है। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि सम्पत्ति के रहते उसमें सुख और संतोष न मिले, उल्टी आकुलताएं ही मिलती रहें और सम्पत्ति आग में स्वाहा हो जाये तब हम उसमें सुख की अनुभूति करें, हर्ष मनायें। प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में नियम क्या माना जाये ? मकान सुरक्षित रहेगा तब उसमें सुख मिलेगा या उसके जल जाने पर सुख की अनुभूति होगी ?

वास्तविकता यह है कि मकान के रहने या जल जाने का हमारे सुख-दुख के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। अपनी-अपनी होनहार और संयोगों के आधार पर जगत के पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। अपनी-अपनी आयु के अनुसार सभी प्राणी जनमते और मरते रहते हैं। इसी परिवर्तन-चक्र का नाम तो संसार है। इस विशाल विश्व के ऐसे नित्य-परिवर्तन हमारे सुख-दुख के नियामक नहीं हैं।

सुख-दुख के सारे समीकरण हमारी अपनी समझ पर, अपने अनुबंधों पर और अपने दृष्टिकोण पर निर्भर हैं। जिसके सम्पर्क में आज हम सुख मानते हैं, कल हमें उसका वियोग सुखद लगता है। आज जिसका साथ सुखद लगता है, समय फिरते ही कल उसका संग-साथ दुखद लगने लगता है। विचार करें तो सुख की सारी मान्यता के पीछे हमारी बुद्धि के यही समीकरण दिखाई देंगे।

ऐसी स्थिति में सम्पत्ति पर ऐसे लेबिल नहीं लगाये जा सकते कि इसके समागम में सुख मिलेगा, और इसके नाश होने पर सुख मिलेगा। अन्तिम निष्कर्ष यही निकालना होगा कि सुख और दुख पदार्थों में नहीं हैं, वे हमारी कल्पनाओं में हैं। वास्तव में सुख और दुख का कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है। हम अपनी वर्तमान परिस्थितियों में, दूसरी परिस्थितियों के साथ उनकी तुलना करके, अपने आप को सुखी या दुखी बनाते रहते हैं। सुख और दुख वास्तविक नहीं, काल्पनिक हैं। वे निरपेक्ष नहीं सापेक्ष हैं। उनकी उत्पत्ति पदार्थों में नहीं हमारी बुद्धि में होती है।

इससे यह भी समझ में आना चाहिए कि सुख और दुख दोनों हमारे हाथ में ही हैं। हम चाहे जिस परिस्थिति में हों, चाहे जिस घटना से प्रभावित हो रहे हों, उसमें सुख का अनुभव करना, या दुख का अनुभव करना, एक सीमा तक हमारे वश में है। जब हम अपने से अधिक सुखी व्यक्तियों की कल्पना करते हैं, उनके सुख पर विचार करते हैं, तब हम अपने लिये दुख का अनुभव कर लेते हैं। परन्तु यदि हम अपने से अधिक दुखी व्यक्तियों की कल्पना करें, उनके दुखों का विचार करें, तो उसी समय हम सुख का अनुभव कर सकते हैं।

हमने सुख-दुख का सीधा-सम्बंध परिग्रह के संयोग-वियोग से जोड़ लिया है। ऐसी ही धारणा बना ली है। शायद यही हमारी सबसे बड़ी भ्रान्ति है।

क्या दिया है परिग्रह ने ?

लालसा से भरा हमारा मन जहां तक जाता है, वहां तक सब कुछ हमारा परिग्रह है। यह मन की लालसा चित्त को व्यामोह की कुंडली में कस लेती है। आचार्यों ने लालसा की इसी वृत्ति को "मूर्च्छा" कहा है। जिसके मन में पर पदार्थ के प्रति गहरी लालसा है, मूर्च्छा-भाव है, सारा संसार उसका परिग्रह है। जिसके मन से यह मूर्च्छा-भाव निकल गया है, संसार में रहते हुये भी, संसार उसका नहीं है–

मूर्च्छाच्छन्न धियां सर्व जगदेव परिग्रहः,
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः।

आज परिग्रह की मूर्च्छा में से उपजा असंतोष मनुष्य को अनेक वर्जित दिशाओं में ले जा रहा है। कामनाओं से तृषित पत्नी अपने पति से संतुष्ट नहीं है। धन के मद में नित-नई चाह रखने वाला पति अपनी पत्नी में कोई नवीनता नहीं देख पाता। उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र है। जहां व्यभिचार के अवसर नहीं हैं वहां भी मानसिक व्यभिचार निरंतर चल रहा है। जीवन तनावों में कसा हुआ नरक बन रहा है। जिसके पास जो कुछ है, वह उससे संतुष्ट

एक कोयल का बच्चा रो रहा था। उसे अपने काले-कलूटे पंखों पर चिढ़ आ रही थी। अभी-अभी उसने मयूर की पीठ पर सुन्दर सतरंगे पंख देखे थे। उसे भी ऐसे ही लुभावने पंख चाहिये।

कोयल जब अपने नन्हें-मुन्ने को समझाते-समझाते थक गई तब उसे लेकर मयूरी के पास चली। शायद उसके गिरे-पड़े पंख पाकर ही बच्चा बहल जाये। पर वहां दूसरा ही तमाशा हो रहा था। मयूर का बच्चा मचल-मचल कर रो रहा था। उसे अपनी भोंड़ी आवाज एकदम नापसन्द थी। उसे कोयल की तरह मीठी और सुरीली आवाज चाहिये।

हमारे साथ भी क्या ऐसा ही नहीं हो रहा ? जिसके पास जो है, उसमें उसे कोई सुख, कोई संतोष नहीं मिल रहा। परन्तु जो उसके पास नहीं है, और दूसरों के पास है, उसका अभाव उसे निरंतर दुखी कर रहा है।

संसार के किसी भी पदार्थ को ले लें, किसी भी उपलब्धि पर विचार कर लें। जिसे वह प्राप्त नहीं है वह उसे पाने के लिये दुखी है, परन्तु जिसे वह प्राप्त है, वह भी सुखी नहीं है। वह तो किसी और पदार्थ के लिये, किसी दूसरी उपलब्धि के लिये अपने मन में आकर्षण पाल रहा है। उसी लालसा में दिन-रात दुखी हो रहा है। परिग्रह-लिप्सा ने हमें सिर्फ अतृप्ति दी है। एक अन्तहीन अतृप्ति।

भोगने का भी समय नहीं

परिग्रह का अर्जन और संकलन मूलतः सुख भोगने की दृष्टि से किया जाता है। परन्तु लिप्सा ने हम पर ऐसा जादू कर रखा है कि संचय **मारा अन्तिम लक्ष्य बनकर रह गया है। हम अन्तिम सांस तक** जोड़ना ही चाहते हैं। संचित को भोगने की, या दूसरों के हित में उसका व्यय करने की हमारी कोई योजना ही नहीं होती। लगता है कि यह सम्पत्ति हमारे लिये नहीं आ रही, वरन् हम ही इस सम्पत्ति के लिये बने हैं। धर जा, मर जा, और बिसर जा, क्या यही हमारी नियति है ?

एक संत कहा करते थे—गरीब जुलाहा भी एक बीता ताना छोड़कर बुनाई समाप्त कर देता है। हम शायद उससे भी गये-बीते हैं जो आखिरी सांस तक ताना-बाना बिठाते रहना चाहते हैं। दुनिया के हाट से अपनी दुकान समेटना ही नहीं चाहते।

भिखारी बनाती है लालसा

हम अनुभव कर सकते हैं कि आज परिग्रह के प्रति यह अंधी

लालसा, सारे पापों और अनीतियों का कारण बनकर, हमारे जीवन को प्रदूषित और मलिन कर रही है। यदि इस प्रदूषण से बचकर जीवन को उसकी स्वाभाविक सुगंधि और पवित्रता प्रदान करनी है, तो हमें अपनी परिग्रह-लिप्सा पर विचार करना ही होगा। उसका कोई अन्य मार्ग नहीं है।

तृष्णा का दंश बहुत विषहरा होता है। उसकी लहर में मन की प्यास बढ़ती जाती है। चित्त में क्षोभ बना रहता है, और मनुष्य एक विशेष प्रकार की रुग्ण-मानसिकता का शिकार हो जाता है। दो पंक्तियां मुझे याद आती हैं—

वह पराधीन है, सबसे बड़ा भिखारी है,
जिसमें अनन्त अभिलाषा है, संतोष नहीं।

राजा या रंक

किसी बादशाह का लश्कर जा रहा था। किसी पड़ोसी राज्य पर चढ़ाई की तैयारी थी। हाथी-घोड़ों, रथ और पयादों के बीच में एक सजे-धजे हाथी के हौदे पर बादशाह सीना तान कर बैठा था। अकस्मात एक ओर से एक रुपया सन्नाता हुआ आया और सीधा शहंशाह की नाक पर लगा। वे पीड़ा से तिलमिला उठे। उन्हें हौदे से उतारा गया। कुछ लोग उनके उपचार में जुट गये और कुछ इस तलाश में कि वह रुपया उन पर किसने फेंका। थोड़ी ही देर में वे एक फकीर को पकड़ कर लाये—

—"यही वह गुनहगार है जिसने हुजूर को चोट पहुंचाई है।"

शहंशाह तो अपनी चोट की पीड़ा भोग रहे थे परन्तु उनका सेनापति क्रोध से उबल रहा था। बहुत दर्प भरे स्वर में उसने प्रश्न किया—"बादशाह पर हमला करने की तुम्हें हिम्मत कैसे हुई ?"

—"मैंने शहंशाह को चोट पहुंचाने वाला कोई काम नहीं किया। किसी भक्त ने मुझे एक रुपया दिया था। मैंने वह रुपया अपने गुरु की नज़र किया। उन्होंने रुपया मुझे लौटा दिया और कहा—"फकीर कभीं रुपया पैसा अपने पास नहीं रखते। इसे किसी जरूरतमन्द को दे देना।

रात भर वह रुपया मेरी झोरी में था, लेकिन इसका बोझ मेरे मन पर बना हुआ था। इसके होने का अहसास बराबर मेरी रूह को बेचैन

किये हुए था। वह मुझे चुभ रहा था। सुबह से मैं इसी तलाश में इस सड़क किनारे बैठा हूं कि कोई जरूरतमंद नज़र आवे और उसे यह रुपया सौंप कर मैं अपना बोझ हल्का करूं।"

फकीर ने बादशाह की ओर मुखातिब होकर नम्रता से कहा–"आप दिखे, लेकिन आप इतनी ऊंचाई पर बैठे हुए थे कि मुझे यह रुपया निशाना साध कर आपकी ओर उछालना पड़ा। जरूरतमन्द को इतना ऊंचा नहीं बैठना चाहिए कि मददगार का हाथ ही उस तक न पहुंच सके। फिर आपके हाथ में कोई कटोरा भी न था, इसलिए रुपया आपके चेहरे पर गिरा। मैं सिर्फ आपकी मदद करना चाहता था। आपको चोट पहुंचाना मेरा मकसद नहीं था।"

दर्द के बीच भी फकीर की बातों पर बादशाह को हंसी आ गई।

–"तुमने मुझे जरूरतमंद और रुपये का मोहताज समझ लिया यह तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है। जानते हो मैं कौन हूं ?"

फकीर ने मुस्कराते हुए कहा–"जहां पनाह ! मैं तो आपको पहिचानता भी नहीं था। मैंने आपके सिपह-सालारों से ही पूछा। मुझे बताया गया कि आप पड़ोस की रियासत पर चढ़ाई करके उसे अपनी सल्तनत में शामिल करने की गरज से घर से निकले हैं। मैंने अपनी जिन्दगी में बहुत से जरूरतमन्द लोग देखे हैं, लेकिन उनकी जरूरतें छोटी, बहुत मामूली किस्म की हुआ करती थीं। आप जैसा बड़ा और रौब-दाब वाला जरूरतमंद आज पहली बार मैंने देखा। मुझे लगा इससे बड़ा भिखारी शायद तलाशने पर भी मुझे नहीं मिलेगा। बस, यही सोचकर मैंने अपनी झोली का रुपया आपके पास तक पहुंचाने की कोशिश की।"

–"जो अपनी ख्वाहिश के लिये दूसरे को नेस्त-नाबूत करने चल पड़ा हो, जो उस मकसद पर अपने चहेतों की जिन्दगी भी कुर्बान करने पर तुला हो, उससे बड़ा और सच्चा "जरूरतमन्द" और कौन होगा ?"

लोभ और तृष्णा इसी तरह राजा को भी रंक और भिखारी बना देती है। जो आशा और तृष्णा के गुलाम हो गये, वे सारी दुनिया के गुलाम हो जाते हैं, परन्तु आशा को जिन्होंने वश में कर लिया, सारा संसार उनके वश में हो जाता है। वे लोक-विजयी होकर मानवता के मार्ग-दर्शक बन जाते हैं। यही बात एक नीतिकार ने कही–

आशाया ये दासाः, ते दासा सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः।

तब हमें अपनी चिर-पोषित अतृप्त आकांक्षाओं को, और अनावश्यक आवश्यकताओं को, क्या बार-बार परखते नहीं रहना चाहिए ? क्या उन पर अंकुश लगाने का प्रयास नहीं करना चाहिए ?

पाना या खोना एक ही तो है

देहात के किसी स्कूल में एक दिन दो विद्यार्थी देर से पहुंचे। अध्यापक ने दोनों से विलम्ब का कारण पूछा। पहले विद्यार्थी ने उत्तर दिया—"मेरे पास एक रुपया था जो मार्ग में ही कहीं गिर गया। उसे ढूंढने में मुझे देर हुई। रुपया भी नहीं मिला और कक्षा भी गई।" कहते-कहते विद्यार्थी की आंखों से आंसू झरने लगे।

दूसरे विद्यार्थी ने दण्ड के भय से सकपकाते हुए कहा—"इसका जो रुपया खोया था उसे मैं ही अपने पांव के नीचे दबाकर खड़ा था। बहुत देर तक यह वहां से हटा ही नहीं, मैं कैसे वह रुपया उठाता और कैसे वहां से चलता। बस, इसी कारण मुझे देर हुई।"

घटना की दृष्टि से देखें तो दोनों विद्यार्थियों की भूमिका में अन्तर है। एक ने कुछ खोया है, जबकि दूसरे ने कुछ पाया है। परन्तु प्रतिफल की दृष्टि से देखा जाये तो दोनों ही दुखी हुए हैं। अपने कर्तव्य पालन में दोनों को ही विलम्ब हुआ है। उसके लिये दोनों ही दण्ड के भागीदार बने हैं। जिसका कुछ खो गया उसे खोने की पीड़ा है, और जिसे कुछ मिला है उसे छिन जाने का भय त्रस्त कर रहा है। उसे प्राप्ति को अपने पैर के नीचे दबाये रखने की चिन्ता है।

यही तो कारण है कि संसार में सब दुखी ही हैं। जिसके पास कुछ नहीं है वह सम्पत्ति के अभाव की यातना से दुखी है। जिसके पास कुछ है वह परिग्रह के सद्भाव में होने वाले तरह-तरह के दुःखों से दुखी हो रहा है। दुखों को जन्म देने वाली आकांक्षाएं और आकुलताएं सबके मन में हैं, लेकिन सुख को उत्पन्न करने वाली निराकुलता, सहिष्णुता और संतोष यहां किसी के पास नहीं है। संतोष और अनाकांक्षा के बिना सुख की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ?

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है — "हमारे जीवन में दो दुखद घटनाएं

घटती हैं। पहली यह कि हमें अपनी मनचाही बस्तुएं मिलती नहीं हैं। दूसरी यह कि वे हमें मिल जाती हैं।"

—"There are two tragedies in life.
One is not to get your heart's desire.
The other is to get it.

—George Bernard Shaw

बात खोने की हो या पाने की इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य के मन में संक्लेश ही उपजते हैं। उन्हीं संक्लेशों की पीड़ा उसे भोगना पड़ती है। वह जितना सम्पत्तिशाली होता जाता है, उसकी पीड़ा उसी अनुपात से बढ़ती जाती है।

जैनाचार्य गुणभद्रस्वामी ने अपने ग्रंथ में लिखा है—संसार में हर प्राणी के भीतर तृष्णा का इतना बड़ा गड्ढा है कि यदि उसमें विश्व की सारी सम्पदा डाल दी जाये, तब भी वह भरेगा नहीं, खाली ही रहेगा। ऐसी स्थिति में किसे, क्या देकर संतुष्ट किया जा सकता है ? विषयों की आशा और तृष्णा सदैव उन्हें दुखी ही करती रहेंगी।

तृष्णागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।

—आचार्य गुणभद्र/आत्मानुशासन

भोग-आकांक्षाओं की तृप्ति के लिये विचारकों ने तीनों लोकों की सम्पत्ति को भी अपर्याप्त माना है। अन्त में संतोष रूपी अमृत का पान करने पर ही ज्ञान के आनन्द की उपलब्धि स्वीकार की गई है—

भोगन की अभिलाष हरन कौं, त्रिजग सम्पदा थोरी,
यातैं ज्ञानानन्द "दौल" अब, पियौ पियूष कटोरी।

—दौलतराम/अध्यात्म पदावली

गीता में भी कर्म-बन्ध से बचने का उपाय बताते हुए यही कहा गया कि —"जो कुछ सहजता से प्राप्त हो उसमें संतुष्ट रहने वाला, हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वों से रहित तथा ईर्ष्या से रहित ऐसा साधक जो अपने अभिप्राय की सिद्धि और असिद्धि में समता-भाव धारण करता है, वह कर्मों को करता हुआ भी कर्म-बन्ध नहीं करता"—

यदृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वातीतः विमत्सरः
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।

—गीता/4-22

वर्तमान समाज व्यवस्था में धन-सम्पत्ति को बहुत अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। आज का समाज-दर्शन तो यह हो गया है कि जिसके पास धन है वही कुलीन है। वही विद्वान् है और वही गुणवान है। धनवान ही कुशल वक्ता है और वही दर्शनीय, भव्य व्यक्तित्व वाला है, क्योंकि सारे गुण धन के आश्रय में ही रहते हैं—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः, स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता, स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रियन्ते।

फिर जहां ऐसी ही सामाजिक स्वीकृति धन को मिली हो, वहाँ उसके उपार्जन के लिये एक पागलपन भरी दौड़ अस्वाभाविक तो नहीं कही जा सकती।

धन से जहां तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती हो उसी हद तक वह हमारे लिये उपयोगी है। जो धन आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रहा हो वह निरर्थक है। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक धन का भी कोई उपयोग नहीं है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उतनी ही सम्पत्ति संकलित करने को उचित ठहराया है जितने से हमारे सांसारिक दायित्वों का भली प्रकार निर्वाह हो सके।

परिग्रह-परिमाण नाम के पांचवें अणुव्रत को ''इच्छा-परिमाणव्रत'' कहकर जैनाचार्यों ने भी यही कहा है कि व्यक्ति को अपनी इच्छाएं सीमित करके, उनकी पूर्ति के अनुरूप परिग्रह रखना चाहिये। उससे अधिक सम्पत्ति के प्रति उसे कोई व्यामोह या आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये।

सामान्य गृहस्थ के लिये सुखी जीवन बिताने का एक ही उपाय है कि वह अपनी आय के भीतर व्यय का संयोजन करके, उसी में अपना काम चलाने का संकल्प ले। यदि आय से अधिक व्यय की आदत होगी तो नियम से जीवन में अशांति और असंतुलन रहेगा। आय से अधिक व्यय न हो, उसके भीतर ही जीवन यापन किया जा सके यह एक कला

है। इसके माध्यम से जीवन में आनन्द का विस्तार होता है और पूरा परिवार शांति का अनुभव करता है। नीतिकारों ने इसी कला को पाण्डित्य कहा है, इसी को वचन-कौशल कहा है। इतना भर नहीं, उन्होंने गृहस्थ के लिये इसे सबसे बड़ा धर्म कहकर इस कला की सराहना की है–

इदमेव हि पाण्डित्यं, इयमेव विदग्धता,
अयमेव परोधर्मः यदायान्नाधिको व्ययः।

–नीतिवाक्यामृत/108

रहीम ने भी अपने खुदा से यही याचना तो की थी कि –"जितने में मेरे परिवार का पेट भर जाये, अतिथि का सत्कार कर सकूं और मुझे भी भूखा नहीं सोना पड़े, ओ खुदा ! बस, मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है। यही मेरी आरजू है"–

सांई इतना दीजिये, जामें कुटुंब समाय,
मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय।

–रहीम

जिस व्यक्ति के जीवन में इतना घटित हो जाए वही निर्भीक होकर सम्मान-पूर्ण जीवन जी सकता है। कबीर ने कहा–"वांछा समाप्त होते ही सारी चिन्ताएं नष्ट हो गईं। मन निश्चिन्त हो गया। ठीक ही तो है, जिन्हें किसी से कुछ नहीं चाहिये वे तो शाहों के भी शाह हैं"–

चाह गई, चिन्ता मिटी, मनुवा बे-परवाह,
जिनकौं कछू न चाहिये, सो साहन पति साह।

–कबीर

परिग्रह की लालसा पर अंकुश लगाने का एक मात्र उपाय है संतोष। जब तक हम अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित नहीं करेंगे, और जब तक हम प्राप्त सामग्री में संतुष्ट और सुखी रहने की कला नहीं सीख लेंगे, तब तक तृष्णा की दाहक ज्वालाओं में हमें जलना ही होगा। परिग्रह से मोह बढ़ेगा और उससे तृष्णा की ज्वालायें और ऊंची होती जायेंगी। एक पद की दो पंक्तियां हैं–

रे मन कर सदा संतोष,
जातें मिटत सब दुख-दोष।
बढ़ैं परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तिस्ना होत,
बहुत ईंधन जरत जैसें, अगिनि ऊंची जोत।

—दौलतराम/अध्यात्म पदावली

ऋषियों के उपदेशों पर चलकर मनुष्य तम से प्रकाश की ओर बढ़ा हो या नहीं, उसने मृत्यु से अमरत्व की ओर पग बढ़ाये हों या नहीं, परन्तु अपनी परिग्रह-प्रियता से प्रेरित वह भौतिकता के क्षेत्र में उपलब्ध से अनुपलब्ध की ओर निरंतर बड़ी तेजी से दौड़ रहा है। विचार करना चाहिये हमें कि हमारी इस लक्ष्यहीन और थकाने-भरमाने वाली दौड़ का अंत कब होगा ? कहां होगा ? और कैसे होगा ?

परिग्रह की सामर्थ्य असीम नहीं है

दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामी ने धन के संचय की निरर्थकता को रेखांकित करते हुए कहा था—"यदि जीवन में पाप का निरोध हो गया तो वह निष्पाप-जीवन ही सबसे बड़ी सम्पदा है। फिर अन्य किसी सम्पदा का कोई अर्थ नहीं है। और यदि जीवन में पाप का आस्रव हो रहा हो, हमारा आचरण पापमय हो, तो किसी भी सम्पदा से हमारे जीवन का उत्कर्ष होने वाला नहीं है। पाप के साथ आने वाली सम्पत्ति हमें दुर्गति के गर्त में ही ले जायेगी। ऐसी स्थिति में सम्पदा से क्या प्रयोजन ?

यदि पाप-निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।
यदि पापास्रवोऽस्त्यन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।

—रतनकरण्ड श्रावकाचार/27

जो हमें अत्यन्त प्रिय होता है, जिस पर हम लुभा जाते हैं, उसकी वास्तविकताओं की ओर से हम दृष्टि हटा लेते हैं। उसकी बुराइयों की ओर से हम अपनी आंखे मूंद लेते हैं। परिग्रह को जोड़ना चाहते हैं, जन्म-जन्मान्तर तक उसे साथ रखना चाहते हैं, परन्तु हम उसे पहचानना नहीं चाहते।

जब कोई व्यक्ति अपनी बीमारी को बीमारी समझता है, तब उसे दूर करने के उपाय भी करता है। ऐसे व्यक्ति के निरोग हो जाने की सम्भावनाएं रहती हैं। परन्तु यदि कोई रोगी अपनी बीमारी को ही अपना स्वास्थ्य समझने लगे तो फिर वह स्वास्थ्य-प्राप्ति के उपाय क्यों करेगा ? तब उसे स्वयं धन्वन्तरि भी निरोग नहीं कर सकेंगे। परिग्रह के विषय में हमारी धारणा भी कुछ ऐसी ही बन गई है। बड़प्पन के दम्भ की रक्षा के लिये हमने परिग्रह की परिभाषा ही बदल ली है। उसे पापों की सूची से निकाल ही दिया है। हम उसे "पुण्य का फल" मानने लगे हैं।

यह सब इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि परिग्रह हम सबको प्रिय लगता है। आज उसी को हमने अपने जीवन का आधार और अपनी महानताओं का मान-दण्ड मान लिया है।

जो जितना क्रूर और हिंसक होगा वह समाज से उतना ही तिरस्कृत होगा। झूठ बोलने और चोरी करने की जिसमें आदत होगी उसे भी हम अपने से दूर ही रखेंगे। कुशील जिसके जीवन में होगा वह अवश्य निन्दा का पात्र बनेगा। परन्तु परिग्रह के बारे में हमारे नियम बिलकुल अलग हैं। जिसने जितना अधिक जोड़ रखा होगा उसे उतना ही ऊंचा आसन हमारे बीच मिलेगा। उसके गले में उतनी ही मोटी माला हम पहनायेंगे।

हमारी लोलुपता ने कुछ ऐसा वातावरण बना दिया है कि पांच पाप अब सिर्फ शास्त्रों में लिखे रह गये हैं, व्यवहार में वे चार ही बचे हैं। परिग्रह हमारी मान्यता में पाप रहा ही नहीं। वह तो अब पुण्य का फल है। वह जितना बढ़ता जाता है, उसे धारण करने वाला उतना ही बड़ा पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

यदि अपने हस्तिनापुर को निष्पाप बनाना है, यदि पापों का एक अंश भी छोड़ना है, तो परिग्रह के बारे में हमें अपने समीकरण बदलने होंगे। परिग्रह के दंश को पहचानना होगा। परिग्रह-प्रियता से प्राप्त होने वाली मानसिक व्याधियों को दृष्टि में रखना होगा और परिग्रह की सीमाओं को समझना होगा।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि यदि उनके पास पर्याप्त धन है तो वे उसके द्वारा सब कुछ खरीद सकते हैं। उनका सोच कई बार सही भी दिखाई देता है, क्योंकि हम अनुभव करते हैं कि सचमुच आज पैसे के

द्वारा सब कुछ तो उपलब्ध है। आदमी का तन और मन, उसका दीन और ईमान सब कुछ किसी जिंस की तरह रोज तो बेचा और खरीदा जा रहा है। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। अभी बहुत कुछ ऐसा है जो पैसे से नहीं खरीदा जा सकता। उदाहरण के लिए–

– हम धन के माध्यम से वस्तुएं खरीद सकते हैं, परन्तु तृप्ति नहीं खरीद सकते।
– संसार की सारी सम्पदा के बदले भी संतोष नहीं खरीदा जा सकता।
– भोजन खरीदा जा सकता है, किन्तु भूख नहीं खरीदी जा सकती।
– औषधियां खरीदी जा सकती हैं, परन्तु स्वास्थ्य नहीं खरीदा जा सकता।
– हर्ष और खुशियां शायद खरीदी भी जा सकती हैं, परन्तु सम्पदा के बदले आनन्द नहीं खरीदा जा सकता।

परिग्रह की ये कुछ सीमाएं यदि दृष्टि में रहें तो हमें उसकी तुच्छता का बोध हो सकता है।

जोड़ने और जोड़ते ही चले जाने की धुन कभी किसी को सुखी नहीं बना पाई। परिग्रह ने जब दी है तब प्यास ही दी है, तृप्ति देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। परिग्रह की वांछा आकुलताओं को जन्म दे सकती है, परन्तु अनाकुलता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परिग्रह की लालसा व्यक्ति को दौड़ाती बहुत है, परन्तु वह पहुंचाती कहीं नहीं। यही परिग्रह की यथार्थता है।

मूर्च्छा छोड़नी होगी

परिग्रह हमारे दुखों का वास्तविक कारण नहीं है। दुखों का वास्तविक कारण तो हमारे मन में पलने वाली आकांक्षाएं हैं। मन की आशा और तृष्णा से दुखों की फसल तैयार होती है। आकुलताओं के अम्बार लग जाते हैं। इसलिए अपनी पीड़ा कम करने के लिए परिग्रह छोड़ने से पहले परिग्रह के प्रति अपने मन की मूर्च्छा छोड़नी होगी। यदि इच्छाएं सीमित हो जायें तो आकुलताओं की भी सीमा बंध जायेगी। आकांक्षाएं ही जीवन की सरिता में पाप का प्रदूषण फैलाती हैं। यदि उन पर अंकुश लगाया जा सके तो इस धारा में निर्मलता आ सकती है।

परिग्रह की आसक्ति छोड़े बिना जो लोग परिग्रह छोड़ बैठते हैं, उनके संक्लेश घटते नहीं हैं, और-और बढ़ते जाते हैं। ऐसे लोगों के लिए किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

गेह तज्या तो क्या तज्या, राग तज्या नहिं वीर,
सांप तजै ज्यों केंचुली, विष नहिं तजत शरीर।

क्या परिग्रह पुण्य का फल है ?

पुण्य कर्म और पुण्य के फल को लेकर बहुत भ्रान्तियां पाली गई हैं। कर्मों को शुभ और अशुभ में, अथवा पुण्य और पाप में बांटकर कहा गया है। परन्तु धन-सम्पदा दिलाने वाला कोई कर्म या प्रारब्ध कहीं नहीं कहा गया। अच्छे संयोगों से, और अनुकूल पुरुषार्थ से, सम्पत्ति प्राप्त होती है, बनी रहती है, और उसमें वृद्धि होती रहती है। विपरीत संयोगों और प्रतिकूल पुरुषार्थ से, सम्पत्ति अस्थिर हो जाती है, क्षीण होने लगती है और नष्ट हो जाती है। इसका पुण्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

धन-सम्पदा की प्राप्ति बहुत लोग पाप के मार्ग से भी करते हैं। आज समाज में अनैतिकता के जो अतिरेक जगह-जगह दिखाई दे रहे हैं, वे अधिकतर अनैतिक कमाई के ही परिणाम हैं। जुआ, वेश्यावृत्ति, लूट-खसोट, डाकेजनी, राष्ट्रद्रोह, स्मगलिंग और इसी प्रकार के अनेक अवैधानिक तरीकों से अर्जित सम्पत्ति को पुण्य का फल कैसे कहा जा सकता है ?

पुण्य और पाप की परिभाषा को जन-जमीन और धन-सम्पत्ति के साथ जोड़ने पर और भी कई तरह की विसंगतियाँ सामने आयेंगी। तब लक्ष्मीपति अधिक पुण्यात्मा सिद्ध होंगे और त्यागी-संन्यासी उनसे कम पुण्यात्मा ठहरेंगे, क्योंकि उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं होती।

जिसे पुण्य कहा गया है उसका फल पदार्थों का संयोग-वियोग नहीं है। पाप का फल भी पदार्थ का, या प्राणियों का मिलना-बिछुड़ना नहीं है। पाप और पुण्य की सही परिभाषा यही है कि पुण्य के उदय में हम सुखी और संतुष्ट होते हैं। पुण्य प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव कराता है। इसके विपरीत, पाप के उदय में हम असंतुष्ट और दुखी रहते हैं। पाप का उदय चिन्ता, आकुलता, विषाद और मनहूसी का अनुभव कराता है।

पुण्य-पाप का गणित बहुत सरल है। सबके लिये शुभ का चिन्तन करने से, शुभ कार्य करने से, और अपने जीवन को निष्पाप तथा पवित्र रखने से पुण्य की प्राप्ति होती है। आगे चलकर उसका अच्छा फल मिलता है। दूसरों का अशुभ चिन्तन करने से, अशुभ कार्य करने से, और अपने जीवन को उच्छृंखल तथा अपवित्र बनाने से पाप की प्राप्ति होती है। जब उसका परिपाक होता है तब उस पाप का वैसा ही दुखद फल भोगना पड़ता है।

कौन उगाता है पुण्य की फसल ?

सबसे विचित्र बात यह है कि इतना सब जानते हुए भी जगत के सारे जीव पुण्य की फसल प्राप्त तो करना चाहते हैं, परन्तु पुण्य के बीज बोना कोई नहीं चाहता। कथनी में हम चाहे रोज दोहराते रहें परन्तु करनी के समय यह भूल जाते हैं कि – "जो जैसा बोयेगा उसे वैसी ही फसल काटना भी होगी।"

हर जन्म में हम पाप के बीज बोते रहे, और उसके फल स्वरूप हर जन्म में दुखों, संक्लेशों और विपत्तियों की फसल काटते रहे। यह जिन ग्रामों की सनातन परम्परा है, उन ग्रामों का नाम है–"हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह"।

शान्तिकामी कृष्ण के प्रस्ताव पर विचार करके यदि हम इन पांच पाप-ग्रामों को त्याग सकें तो पंच-अणुव्रत की उस पवित्र भूमि का स्वामित्व हमें प्राप्त हो सकता है, जहां पुण्य की फसल बोने तथा साता, संतोष और आनन्दानुभूति की फसल काटने की परम्परा है। यही वह भूमि है जिस पर खड़े होकर हम अपनी आत्मा के अधिक निकट होते हैं। वहीं पर अपने ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लेते हैं और उसका सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

कल्पनाओं का फैलाव ही परिग्रह है

परिग्रह का अर्थ है अपने आपको बाहर की ओर फैलाना। अपने को पर से जोड़ना। जहाँ मैं नहीं हूं वहाँ अपने होने की कल्पना करना। जो मेरा नहीं है उसमें मेरे-तेरे की कल्पना करना। अपने को पर के साथ जोड़ते जाना ही परिग्रह है। फैलाना अच्छा लगता है हमें। व्यापारी

अपनी दुकान फैलाता है। विस्तृत विज्ञापनों के जरिये जहाँ नहीं है वहाँ पहुँचना चाहता है। कलाकार अपनी कला का विस्तार करता है। वक्ता अपनी बात को विस्तार देता हुआ फैलाता है। मित्र और शत्रु बनाकर जीव अपने राग-द्वेष को फैलाता रहता है। लगता है संसार में सब फैलाने में ही लगे हैं। सचमुच फैलाना एक कला है। परन्तु संत कहते हैं – समेटना उससे भी बड़ी कला है।

हर फैलाव का अंतिम लक्ष्य समेटना ही होता है। फैलाने में श्रम है, विकल्प है, तर्क-वितर्क हैं। समेटने में कोई ऊहापोह नहीं है। वहां कोई आशंका नहीं है। फैलाने का पुरस्कार समेटने में ही निहित है। व्यापारी दुकान का फैलाव समेटे बिना रात्रि में सो नहीं सकता। बाहर से अपने में लौटे बिना आराम नहीं कर सकता। कलाकार अपने विस्तार के केन्द्र में अपने कथ्य को रेखांकित करके ही संतुष्ट हो पाता है। उसकी सार्थकता परिकर के बिखराव में नहीं, अभिप्राय के केन्द्र में है। वक्ता का विस्तार श्रोता को अभिप्रेत की ओर ले जाने का एक प्रयास मात्र है। सारे विस्तार को समेट कर मूल विषय पर समापन करना ही वक्ता की सार्थकता है।

मैंने भी असंख्य पदार्थों से राग करके अपने आपको बहुत फैलाया है। जो कुछ बीत गया, समाप्त हो गया, उस अतीत के कितने राग-द्वेष मेरे मन में पल रहे हैं। पनप रहे हैं। वर्तमान में तो मेरी आकांक्षाओं की कोई सीमा ही नहीं है। जगत की सारी सम्पदा को अपने लिये सुरक्षित पाकर भी मैं संतुष्ट हो ही जाऊंगा ऐसी कोई गारण्टी नहीं है। और भविष्य के लिये इतने संकल्प-विकल्प मेरे पास हैं कि उन सबकी कल्पना करने के लिये मेरा यह जनम छोटा पड़ जायेगा। रैन बीत जायेगी पर सपना पूरा नहीं हो सकेगा। कामनाओं का यह अनन्त विस्तार ही वास्तविक परिग्रह है। जीवन में निराशा और अशान्ति का झरना इसी विस्तार में से फूटता है। मेरे सारे क्लेश यहीं से उत्पन्न हो रहे हैं।

असीम आकांक्षाओं के वशीभूत होकर, कामनाओं की महाज्वाला में झुलसते हुए, मैंने अपना विशद संसार बसाया। परन्तु वह मन को सुख का तनिक सा भी संवेदन नहीं दे पाया। उल्टे उसके संरक्षण की आकुलता, तथा और अधिक पाने की लालसा, मेरे मन को निरन्तर दाह ही देती रहीं। क्या सम्पदा के साथ संतोष का कोई रिश्ता है ? क्या ऐश्वर्य के साथ अनाकुलता का दूर का भी कोई सम्बंध है ? नहीं।

अप्राप्त को पाने की लालसा की दाह बहुत दुखद है, परन्तु मनचाहा प्राप्त कर लेने पर उसे बनाये रखने की चिन्ता, उससे भी अधिक दुखद है। उसकी दाह तो अनन्त है।

यही दाह संसार का सबसे बड़ा दुख है। छोटा और बड़ा, मूरख और विद्वान, निर्धन और धनी, सभी इसी पीड़ा से पीड़ित हैं। इसी दाह में दग्ध हो रहे हैं।

क्लेश उत्पन्न करने वाली अनंत आकांक्षाएं सबके मन में हैं, परन्तु निराकुलता और सुख-शान्ति को उत्पन्न करने वाला संतोष यहां किसी के पास नहीं है। अनासक्ति और संतोष के बिना सुख की कल्पना ही व्यर्थ है। अपनी कल्पनाओं के विस्तार को समेटे बिना यह संभव ही नहीं है।

सहज है समेटना

जो ठान लेते हैं उनके लिये अपने आपको समेटना सहज हो जाता है आशंका और चिन्ता तो फैलाते समय होती है। समेटने में क्या आशंका, कैसी चिन्ता। फैलाव एक यात्रा है बाहर की ओर। समेटना अपने भीतर की ओर लौटने का सफर है।

जाड़े की सुबह कछुआ नदी किनारे धूप में आ जाता है। चारों तरफ सतर्कता से टटोल-टटोल कर वह अपने हाथ पैर और सिर बाहर निकालता है। पग-पग पर आशंकित और क्षण-क्षण सावधान। फिर अकस्मात कहीं कोई आहट होती है और वह अविलम्ब अपने आपको अपने खोल के भीतर समेट लेता है। इस समेटने में कोई आशंका नहीं, कोई भय नहीं। किसी सतर्कता, किसी सावधानी की आवश्यकता नहीं। अपने भीतर लौटने में कैसा भय, किसकी आशंका। वह तो मेरा अपना जाना-पहचाना घर है। वही तो मेरा चिरंतन आश्रय है।

अभी समय है कि अपने को समेटा जा सकता है। इस सारे फैलाव में से अपने आपको सुरक्षित निकाला जा सकता है। फैलाव में सबको आकुलताएं ही मिली हैं। उनमें सुख-साता और संतोष किसी को नहीं मिला। महावीर ने भीतर-बाहर से अपने आपको पूरी तरह रिक्त कर लिया तभी वे महावीर बन पाये। इस समेटने की कला में जो पारंगत होते हैं वे ही मानवता को मार्ग दिखाते हैं। वे ही महापुरुष हैं।

हम जिस विशाल सृष्टि के अंग हैं, वह जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थों से बनी है। ईश्वरत्व की सारी शक्तियां अपने आप में समेटे हुए प्रत्येक प्राणी, विकारी होकर इस सृष्टि में भ्रमण कर रहा है।

परन्तु विकारी होकर सुख-दुख में संक्लेशित होते रहना मेरा स्वभाव नहीं है। सुख-दुख दोनों मानसिक रोग हैं। यदि किसी प्रकार अपना सही ऐश्वर्यशाली स्वरूप मैं पहिचान सकूं, अपने भीतर रोग की तरह उपजते हुए विकारों को जान सकूं, और इस विश्व की व्यवस्था को वास्तविक रूप से समझ सकूं तो विकारों और वासनाओं में से अपने आपको समेटना आसान हो जायेगा।

कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को जिस मोह-निद्रा से जगाने का उपाय गीता-गायक ने किया था, अविद्या ही वह मोह-निद्रा थी। उसका मूल-कारण दृश्य का विकास नहीं, दृष्टि का अभाव था। यही दृष्टि-हीनता "मिथ्यात्व" है। उसका अंधेरा कटे बिना, विश्व की बात तो दूर, मनुष्य अपने आपको भी नहीं पहचान सकता।

स्व-पर विज्ञान का प्रकाश फैलते ही अविद्या का अंधकार अवश्य हटेगा। यह विज्ञान प्राप्त करने के लिये संतों ने सबसे पहले माया पर आघात किया है। जीव को प्रलोभित करके विकारी बनाने वाली माया ही है। माया के कोहरे में बड़े-बड़े साधक भटक जाते हैं। अपने आपको पहचानने के लिये माया को पहचानना बहुत आवश्यक है।

□

नीरज जैन

जन्म : 31 अक्टूबर 1926, रीठी (जबलपुर, म.प्र.)

शिक्षा : एम.ए. (पुरातत्व-कला), अदीब कामिल।

अतीत : जटिल संघर्षों से भरा किन्तु साहस से ओत-प्रोत।

पैंतालिस वर्ष की आयु में कॉलेज में दाखिला लेकर छोटे बेटे के साथ बी.ए., फिर एम.ए.। कविता, शेरो-शायरी में दखल। पत्रकारिता और धार्मिक अध्ययन में रुचि। समीक्षक : प्रवचनकार।

सहकारिता के अध्ययनार्थ देश-विदेश का व्यापक भ्रमण।

वर्तमान : प्राचीन इतिहास और मूर्तिकला की शोध-खोज के लिए समर्पित। फ़ोटोग्राफ़ी और चित्र-संकलन में प्रशंसित अध्यवसाय। प्रतिमा-विज्ञान के अध्येता विद्वान्।

साहित्य सेवा : शताधिक अनुसंधानात्मक लेख तथा खजुराहो, कुण्डलपुर, नवागढ़ आदि पर परिचय-पुस्तकें प्रकाशित। 'खजुराहो के जैन मन्दिर' अंग्रेजी में अनूदित-प्रकाशित—'जैन मान्युमेण्ट्स एट खजुराहो'। अनेक स्फुट सामयिक लेख, ललित निबन्ध और कविता-संग्रह प्रकाशित। ज्वलंत सामाजिक संदर्भों पर अति-चर्चित कृति "सोनगढ़-समीक्षा" के प्रणेता।

गोमटेश्वर बाहुबली को व्याख्यायित करने वाली सरस एवं कालजयी कृति 'गोमटेश-गाथा' के रचनाकार। इस ऐतिहासिक उपन्यास के लिए अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद द्वारा 'गोपालदास बरैया पुरस्कार' से सम्मानित। भारतीय ज्ञानपीठ से दो संस्करणों के साथ कुम्बोज से मराठी अनुवाद भी प्रकाशित। कन्नड़ अनुवाद प्रकाशनाधीन।

ओजस्वी वक्ता और जैन आगम के प्रभावक-प्रवचनकार, अनेक समाजसेवी संस्थाओं, तीर्थक्षेत्र प्रबन्ध समितियों तथा साहित्यिक गतिविधियों से सम्बद्ध।

स्थायी पता : शान्ति सदन, सतना (म.प्र.) 485001

लेखक की अन्य रचनाएं

मानवता की धुरी

हमारे ही अंतरंग में निरन्तर धधकते अपने-अपने कुरूक्षेत्र प्रतिक्षण विस्फोट की आशंका से हमें आतंकित कर रहे हैं । गरीबी की गरिमा, सादगी का सौन्दर्य, संघर्ष का हर्ष, समता का स्वाद और आस्था का आनन्द, ये सब हमारे आचरण से पतझर के पत्ते की तरह झर गये हैं । "मानवता की धुरी" में लेखक ने कोशिश की है कि मनुष्य के जीवन का यह पतझर खत्म हो और वसंत का वैभव पुनः उसके जीवन में प्रगट हो। पूरी पुस्तक में झंकृत वाक्य है- "सौम्य, शान्त और तनाव रहित जीवन हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है ।"

मूल्य - ३५.००

गोमटेश-गाथा

आदिब्रम्हा ऋषभदेव के दो पुत्रों-भरत और बाहुबली-के बीच द्वन्द-युद्ध की घटना से उत्पन्न अनासक्ति और वैराग्य का मर्मस्पर्शी चित्रण। राग और विराग के बीच हृदय-मंथन का अनुपम उदाहरण। उसी घटना की पृष्ठभूमि में श्रवणबेलगोल के गोमटस्वामी के निर्माण की जीवन्त गाथा । इतिहास की नींव पर आधारित, पुराणों की गरिमा से मण्डित, रोचक शैली में लिखा हुआ बहुचर्चित ऐतिहासिक उपन्यास । मराठी में अनूदित और विद्वत्परिषद द्वारा पुरस्कृत लोकप्रिय प्रकाशन ।

मूल्य - ३०.००

महोत्सव-दर्शन

श्रवणबेलगोल में १९८१ में आयोजित "गोमटेश्वर द्विसहस्राब्दी महोत्सव और महामस्तकाभिषेक" का आँखों देखा हाल। भट्टारक परम्परा का प्रामाणिक इतिवृत और पिछले सौ वर्षों में सम्पन्न सात महामस्तकाभिषेकों का गौरवशाली इतिहास । सा[...]अनुपम उदाहरण। उसी घ[...] के साथ लगभग ढाई सौ बह[...]गोल के गोमटस्वामी के निर्मा[...] पर आयोजित अनुपम औ[...]हास की नींव पर आधारित, और सचित्र झांकी प्रस्तुत, रोचक शैली में लिखा हुआ ब[...] [...]स । मराठी में अनूदित और वि[...] [...]कप्रिय प्रकाशन ।

मूल्य -